प्रथम मस्करण ·

१५ नवम्बर १९५३

प्रकाशक :

मंत्री

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ

वर्धा

वम्वई-राज्य

मुद्रक :

पं० पृथ्वीनाथ भार्गव

भार्गव भूपण प्रेस

वाराणसी

ब्लॉक निर्माण ·

रेडियण्ट प्रॉसेस

कलकत्ता

ब्लॉक छपाई :

श्री अनील साहा

केमियो प्राइवेट लिमिटेड

कलकत्ता

कीमत :

आठ रुपये

परम पूज्य नन्द बाबू को

जगत्-पारावारेर तीरे
छेलेरा करे मेला।
वालुका दिये वाधिछे घर,
झिनुक निये खेला
विपुल नील सलिल 'परि
भासाय तारा खेलार तरी
आपन हाथे हेलाय गड़ि'
पाताय गाँथा भेला;
जगत्-पारावारेर तीरे
छेलेरा करे खेला।

* * *

फेनिये उठें' सागर हासे,
हासे सागर-वेला।
भीषण ढेउ शिशुर काने
रचिछे गाथा तरल ताने,
दोलना धरि येमन गाने
जननी देय ठेला।
सागर खेले शिशुर साथे,
हासे सागर-वेला।

—रवीन्द्रनाथ

## प्रकाशकीय

श्री देवी प्रसाद जी नयी तालीम के अध्यापक और विशेषज्ञ है। यह पुस्तक आपके दीर्घकालीन क्रियात्मक अनुभव का नवनीत है। आचार्य नन्द बाबू और श्री जाकिर हुसेन साहब ने उस बारे में जो कुछ लिखा है, वह सर्वथा उपयुक्त है। जाकिर साहब के शब्दो मे "लेखक ने अनुभव के सोने पर प्रेम का सुहागा चढाकर विचारों की चमक-दमक ही नही बढायी है, इनमें जीवन की गरमी भी डाल दी है। " लेखक सच्चा शिक्षक होने के कारण प्रेमपुजारी है। प्रेम की खिडकी से बच्चे की सारी दुनिया इस पर खुल गयी है। जो शिक्षक इस खिडकी और इस दुनिया को समझना चाहता है, उसे इस पुस्तक से बहुत कुछ मिलेगा।"

हमारा सौभाग्य है कि बच्चो की कला और शिक्षा की ऐसी पुस्तक पाठको को भेट करने का हमें अवसर प्राप्त हो रहा है। हमारा विश्वास है कि तालीम के प्रेमियो को अपने अध्ययन और मनन के लिए इसमें पर्याप्त सामग्री मिलेगी तथा शिक्षा-क्षेत्र में यह पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।



# आशीर्वाद

देवी ने जो बालकों की कला-शिक्षा के बारे में यह पुस्तक लिखी है, उसे मैं पूरा-पूरा तो नहीं सुन पाया, किन्तु मैंने देखा है कि उसमे बालकों की चित्र-शिक्षा के सम्बन्ध में सभी बातें हैं। बालकों को स्वाभाविक ढंग से कला-शिक्षा कैसे दी जाय, इसका उसमें सुन्दर ढंग से विस्तार किया गया है। बाद में बड़े होकर कलाकार होने का बीज जिन बालकों में है, उनकी शिक्षा के बारे में भी पुस्तक में इंगित किया है। साधारण लोगों की कला-शिक्षा की भी बड़ी अच्छी तरह चर्चा की गयी है। साधारण व्यक्ति कलाकार तो नहीं हो सकता है, किन्तु समाज में सभी व्यक्तियों की कला-शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि जीवन में चाहे वे किसी भी स्तर या विभाग में हों, इस प्रकार की सम्पूर्ण शिक्षा के द्वारा ही वे कलाकार और कला को पहचान सकेंगे। वे कलाकार-शिल्पी के सुख-दुःख की बात और उसके जीवन की आवश्यकताओं को समझ सकेंगे, एवम् उसमें समवेदना रख सकेंगे।

कला के संबंध में अज्ञ रहने के कारण मनुष्य अपनी बुद्धि का समतोल खो रहा है। संसार में द्वन्द्व और तनाव का वातावरण है। यह सब कला की मर्म-कथा के न जानने के कारण भी हो रहा है।

कला-शिक्षा केवल पुस्तक पढ़ने या कुछ सुनने से नहीं होती। उसका विकास उच्च शिल्प के निदर्शन द्वारा होता है। उससे भी अच्छा है कि हर व्यक्ति सृजनात्मक कार्य स्वयं अपने हाथ से करे और उसे समझे।

देवी प्रसाद की इस पुस्तक में इन विषयों की खूब विशद रूप में वर्णना की गयी है। इस पुस्तक के द्वारा कलाकार और साधारण लोगों का प्रभूत उपकार होगा।

शान्तिनिकेतन

# आभार

इस पुस्तक को तैयार करने में सबसे अधिक मदद मुझे सेवाग्राम की आनन्द-निकेतन-शाला के बालकों से मिली। जो कुछ मैंने किया, जो कुछ सीखा, वह उन्हींकी बदौलत और उन्हींके साथ सीखा। साथी शिक्षक मित्रों ने भी दिल खोलकर मुझे मदद दी। सबसे पहले उन बालकों और उनके शिक्षकों को मैं हृदय से धन्यवाद अर्पण करता हूँ। आदरणीया आशा दीदी की जो सहायता मुझे मिली, वह भी अपूर्व है। वे यह चेतावनी मुझे हमेशा देती रहती थीं कि पुस्तक ऐसी होनी चाहिए, जिसे सामान्य शिक्षक भी समझ सकें। इसमें मैं शायद पूरा-पूरा सफल नहीं हो पाया हूँ, किन्तु इससे मुझे प्रेरणा जरूर मिलती रही। बड़ी बहन के इस प्रेम के लिए मन ही मन कृतज्ञता का अनुभव कर रहा हूँ, प्रकाश कैसे करूँ! जैसे-जैसे लिखता जाता था, पहले मेरी पत्नी जानकी देवी उसे देखती थीं। भाषा-सुधार, काट-छाँट करने में उन्हें मुझसे भी अधिक मेहनत करनी पड़ी। उनकी मदद के बिना यह पुस्तक नहीं लिखी जा सकती थी। भाई नारायण म्हस्कर, जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि अत्यन्त परिश्रम और श्रद्धा के साथ टाइप की, उन्हें मेरा हार्दिक धन्यवाद। अन्त में डॉ० ज़ाकिर हुसेन साहेब को, जिन्होंने पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया, अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता अर्पण करता हूँ।

सेवाग्राम
१५-११-'५९

[signature]

# प्रस्तावना

मेरे दोस्त और साथी श्री देवी प्रसाद जी ने बच्चों की कला-शिक्षा पर एक किताब लिखी और मुझसे कहा कि इसके लिए प्रस्तावना मैं लिखूं। जब किसी किताब में लेखक के सिवा किसी और की लिखी हुई प्रस्तावना देखता हूँ तो जी कुछ चिढ़ता-सा है। अच्छी किताब तो आप अपने पैरो पर खडी होती है, लिखे जाने के बाद तो इसे अपने लेखक का सहारा भी दरकार नही होता, किसी और का सहारा वह क्यो ले? जब कोई मुझसे प्रस्तावना लिखने को कहता है तो उसे यही बात समझाता हूँ, नही समझता तो बहाने करता हूँ, तरह-तरह से टालता हूँ। बहुत बार तो बात टल जाती है। कभी-कभी नही भी टलती और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सचमुच टालने को जी भी नही चाहता।

जब देवी प्रसाद जी ने कहा, चाहे झूठ-मूठ ही कहा हो, तो इन्हें भी ऊपरी जी से जरा टाला, पर सच यह है कि जी यही चाहता था कि इनकी इस मन से निकली हुई किताब के साथ अपना नाम भी अटका दूं। इन्हें कुछ बहुत नही

कहना पड़ा और मैंने मान लिया। और मान लिया किताव को पढे विना। इसलिए कि लेखक जाना-पहचाना हो तो लेख का भी कुछ तो अंदाज होता ही है कि कैसा होगा।

मै देवी प्रसाद जी को कोई पद्रह-सोलह वर्षो से जानता हूँ। हम दोनो हिन्दुस्तानी तालीमी सघ मे साथी थे। मुझे इनका काम देखने का अवसर भी मिला है और इन्हे काम करते देखने का भी। इनके वच्चों को भी काम करते देखा है और इनका काम भी। मेरे मन मे अच्छे शिक्षक का जो एक नक्शा है, मुझे तो देवी प्रसाद जी वैसे शिक्षक लगे। और मेरे दिल मे ऐसे सच्चे शिक्षकों की जो इज्जत है, वह तो मै किसीसे ठीक-ठीक वता भी नही सकता। यही कारण था कि मेरा जी इनकी किताव के साथ अपना नाम अटकाने को चाहा। अच्छो की सगत मे कुछ अच्छाई तो हाथ लग ही जाती है। और अच्छे शिक्षक की संगत मे तो जीवन के मुरझाते पौधो को लहलहाते देखा है, व्यक्तित्व के सोने को मिट्टी वनते-वनते फिर सोना वनते देखा है। अच्छे शिक्षक की सगत का क्या कहना ?

मान तो लिया इस सगत की खातिर। और सोचा कि वालक-कला-शिक्षा के विपय मे जो कुछ सोचा-समझा है, इसका कुछ जिक्र करके इस किताव मे एक कोना अपने लिए निकाल लूंगा। यह सोचा था, जव किताव पढी न थी। फिर किताव पढी। इसका एक-एक शव्द पढ़ा तो मेरा विचार वदल गया। जो थोड़ा-वहुत जानता था, वह सव तो इस किताव मे था ही, वहुत कुछ और भी था। लेखक ने अनुभव के सोने पर प्रेम का सुहागा चढाकर विचारो की चमक-दमक ही नही वढ़ायी है, इनमे जीवन की गरमी भी डाल दी है। वडी ही अच्छी किताव लिख दी है

देवी प्रसाद जी ने। इसमे इनकी वर्षो की मेहनत, सूझबूझ, और बाल-प्रेम का निचोड है। यह केवल कला-शिक्षको के पढने की किताब नही, सब ही शिक्षकों के पढने की चीज़ है।

इस किताब मे जिस कला का ज़िक्र है, वह क्लास मे हर दूसरे-तीसरे दिन आध घंटा, पौन घटा पढाने-सिखानेवाली चीज नही है, जीवन की साधना है। इस किताब का लेखक गुरुदेव के जगत् मे भी रहा है और बापू के जगत् मे भी। यह कला मे जीवन डालने और सारे जीवन को कला बनाने का हौसला रखता है।

लेखक सच्चा शिक्षक होने के कारण प्रेम-पुजारी है। प्रेम की खिडकी से बच्चे की सारी दुनिया इस पर खुल गयी है। जो शिक्षक इस खिड़की और इस दुनिया को समझना चाहता है, उसे इस पुस्तक से बहुत कुछ मिलेगा।

बुनियादी पाठशालाओ और पुरानी चाल की पाठ-शालाओ, दोनो ही के शिक्षको को इसके पढने से अपने काम के सुधार मे सहारा मिलेगा। नये रास्ते सुझाई देगे। ललित कला और उपयोगी कला, उच्च स्थानवाली और नीच स्थानवाली कलाओ का धुंधलका कट जायगा, कला और जीवन का सम्बन्ध जुडता दिखाई देने लगेगा। यह किताब उन्हे याद दिलायेगी कि कलाकार और शिक्षक तो योगी होता है और उन्हे सोचना होगा कि आज वह योग-साधना छोडकर और सब कुछ क्यो करते है। इस किताब से वह बालक को समझेगे, किशोर-अवस्था की कठिनाइयो को जानेंगे, दोनो के भेद को पहचानेंगे, समाज की सम-स्याओं के समझने का रास्ता भी कुछ खुलेगा, कि आज ऐसा लगता है कि "सारा समाज किशोर-अवस्था के सकट-काल मे आ पडा है" और इसे पार नही कर पाता। शिक्षक और

विद्यार्थी का सम्बन्ध भी समझ में आयेगा। मेरा विश्वास है कि जो शिक्षक इस किताब को पढ़ेगा, वह बहुत लाभ उठायेगा। उसकी समझ भी बढ़ेगी, दिल भी गरमायेगा और वह अपने काम मे, कि जीवन कला का काम है, जी से और हिम्मत से लग जायगा।

मै देवी प्रसाद जी का दिल से आभारी हूँ कि उन्होने औरों से पहले मुझे इस किताब को पढ़ने का मौका दिया। एक पुराने थके हुए शिक्षक होने के कारण मुझे फ़ख़्र है कि एक हिन्दुस्तानी शिक्षक ने ऐसी सुन्दर, ऐसी रोशनी देनेवाली, ऐसी दिल को गरमानेवाली किताब अपने साथियो के लिए लिखी। नही तो हमारे देश मे तो शिक्षा पर ज्यादातर वही कुछ कहते है या लिखते है, जो आप शिक्षक बनने पर राजी नही होते। शुक्र है कि रुत बदल गयी है।

राजभवन, पटना

ज़ाकिर हुसैन

# अनुक्रम


भूमिका — पृष्ठ १

पहला अध्याय

**कला-शिक्षा क्यों ?** — १७

- भौतिक जीवन का सौन्दर्य — १९
- प्रकृति-परिचय बन्धुत्व — २६
- सचेतता — २८
- आँख की शिक्षा — ३०
- लावण्य-निर्माण — ३३

दूसरा अध्याय

**बच्चों की नजर से** — ४१

तीसरा अध्याय

**बच्चों के चित्रों का विकास-क्रम ;** — ५०

- बच्चो के चित्रो के विकासक्रम की मुख्य अवस्थाएँ — ५३
- कीरम-काँटे की अवस्था — ५४
- प्रतीक-काल — ५४
- वास्तविकता-परिचय-काल ( रियलिज्म ) — ५५
- किशोर-अवस्था और उसके बाद — ५७
- कीरम-काँटो की अवस्था — ५९
- साधन से परिचय — ५९
- स्नायु-उपयोग-प्रधान अवस्था — ६०
- कीरम-काँटो का नामकरण — ६०
- प्रतीक-प्रधान अवस्था — ६१
- प्रतीक क्या है और कैसे बनते है ? — ६३
- बच्चो का रग-बोध — ६९

बच्चों में देश-विन्यास का बोध जन्मजात पृष्ठ ७२
पहला प्रयोग ७४
दूसरा प्रयोग ७६
वास्तविकता-परिचय-काल ८२

चौथा अध्याय

## किशोर-अवस्था ८७

शिक्षा की बुनियाद कला हो १०२

पाँचवाँ अध्याय

## किशोर-अवस्था में कला-शिक्षा १०५

छठा अध्याय

## शिक्षक और शिक्षा का वातावरण ११०

सातवाँ अध्याय

## शिक्षा-पद्धति १२३

प्रारम्भ कब करें ? साधनों का प्रश्न १२४
मार्ग-दर्शन १२६
प्रारम्भ किया चित्र पूरा किया ही जाय १२८
साधनों को स्वच्छ रखें १२९
बैठने का ढंग १३०
आकार-भेद और रंग-भेद का बोध १३१
रंगों के नाम और सादृश्य १३२
वर्गीकरण १३३
एक ही चित्र बार-बार १३३
तरह-तरह के माध्यम जरूरी १३५
कहानी-चित्रण १३६
चित्रों के लिए विषय १३६
समालोचना १३९
कला-वर्ग और समय-पत्रक १३९
कागज़ का नाप १४०

कागज़ की लम्बाई-चौडाई पृष्ठ १४१
पर्सपेक्टिव का काम १४२
क्राफ्ट का काम १४४
भात बनाने का महत्त्व १४४
क्लास-रूम १४७
बालको का मनोवैज्ञानिक प्रकार १४९
बालको के चित्रो का रेकार्ड रखना १५०

आठवां अध्याय

**कला-परिचय** १५१

नवां अध्याय

**कुछ सवाल और उनके जवाब** १५९

परिशिष्ट . अ

**नकल क्यों नहीं ?** १८९

परिशिष्ट : आ

**बच्चे भी कलाकार होते है** १९४

परिशिष्ट : इ

**बच्चों के चित्रित साहित्य का सवाल** १९८

परिशिष्ट ई

**सहायक ग्रन्थ** २०२

# चित्र-परिचय
## रंगीन चित्र

एक 'रथ' लडका, उम्र ११ पृष्ठ ८ के सामने।
इस बालक को बोलते हुए बहुत कम देखा। किन्तु साथ में चित्रकला के लिए एक बही हमेशा पास रखता था। उसका अधिकतर आत्म-प्रकटन चित्रकला द्वारा ही होता था।

दो 'बेचारा मनुष्य' लडका, उम्र ११-८ पृष्ठ ९ के सामने।
यह बालक स्वयं बडी उदास वृत्ति का था। इसका रगो का चुनाव देखने ही योग्य है। मनुष्य का मुँह हरा बनाने में उसे कोई सकोच नही हुआ।

तीन 'पक्षि' लडका, उम्र १२ पृष्ठ २४ के सामने।
इस चित्र को बनाते समय बालक ने इसे कई बार बदला। उसके मन मे एक खास रगमेल था, जिसे बिना पाये वह चैन नही लेना चाहता था। जब चित्र पूरा हुआ, तो शिक्षक के पास आकर बड़े आनन्द से उसने अपनी कृति दिखाई।

चार 'जब मैं कुएँ में गिरा' लडका, उम्र १३-६ पृष्ठ २५ के सामने।
बालक एक दिन कुएँ से पानी निकालते-निकालते उसमें गिर पडा। निकालने के बाद उससे उसके साथियो ने पूछा, "कैसा लगा कुएँ में ?" उसने अगले दिन एक लेख लिखा और यह चित्र बनाया। उसके शरीर का रग नीला दिया है। शायद यह भय के कारण होगा।

पांच 'शारदोत्सव' लड़की, उम्र १४ पृष्ठ १०४ के सामने।
यह बालिका इस विशेष कार्यक्रम की संयोजिका थी और स्वय नृत्य-कला की अच्छी विद्यार्थिनी।

छह 'कृष्ण भगवान्' लडकी, उम्र १२-६ पृष्ठ १०५ के सामने।
बालिका का बौद्धिक स्तर अच्छा और उसकी चित्रकला में आलंकारिकता विशेष प्रमाण में थी।

सात 'ग्रीष्म में मेरा गाँव' लडका, उम्र १५ पृष्ठ १२० के सामने।
ग्रीष्म ऋतु में गाँव का सुन्दर चित्रण।

आठ 'खिडकी में' लडकी, उम्र १४-३ पृष्ठ १२१ के सामने।
यह बालिका चित्र-कला में विशेष रुचि रखती थी। बाकी विषयो में काफी पिछडी हुई थी।

१ 'पहले' कीरम-काँटे' लडका, उम्र २-७

जब प्रारम्भ में बालक हाथ में पेंसिल पकडकर गोल-गोल आकार बनाने लगता है। यह विशेष तौर पर स्नायु-क्रिया ( मस्क्युलर मूवमेण्ट ) होती है।

२ 'साबन से परिचय' लडकी, उम्र ३-६

बालक देखता है कि जो साबन हाथ मे है, उससे क्या-क्या हो सकता है।

३ 'स्नायुओ पर कब्जा आना प्रारम्भ' ( मस्क्युलर कण्ट्रोल ) लडका, उम्र ३

अब हाथ केवल गोल-गोल न चलकर कोणाकार और उल्टा-सीधा भी चलने लगता है।

४ 'स्नायुओ पर अधिक कब्जा' लडका, उम्र ३

पूरा कन्धा और कोहनी चलना कम हो जाता है और कलई पर कब्जा आने लगता है। अलग-अलग रगो से हाथ इधर-उधर चलाने में बालक और मजा लेने लगता है।

५ 'गोल-गोल आकारो से खेल' लडकी, उम्र ४-६

इस आकारो के खेल के बाद इस बालिका ने इस चित्र का नाम दिया घर।

६ 'घोडा' लडका, उम्र ४

कूँची और रग से जो 'कीरम-काँटे' बने, इस बालक ने उसे 'घोडे' का नाम दिया। सचमुच ही चित्र में घोडे का आभास आता है।

७ 'राम का धनुष' लडका, उम्र ४

( वर्णन पृष्ठ-सख्या ६२ पर देखिये )

८ 'मनुष्य' लडका, उम्र ४

पहले बालक ऊपर से नीचे लकीर खीच रहा था। इसके हाथ से एक पडी लकीर पहली खडी लकीर को काटते हुए खिच गयी। उसके बाद उसने सब खडी लकीरो को आदमी बनाने के लिए पडी लकीरो से काट दिया। सब मनुष्य बन गये।

९. 'तारो भरी रात' लडकी, उम्र ५-३

चित्र बनाने के पहले ही इस बालिका के मन में चित्र की योजना थी। इस अवस्था में स्पष्ट प्रतीक-काल प्रारम्भ हो जाता है।

१०. 'वर्धा की रोशनी' लड़का, उम्र ५

सेवाग्राम से वर्धा की रोशनी रात को चमकती हुई दीखती है। बालक ने पहले से ही योजना बनायी थी कि वह उसका चित्र बनायेगा।

११. 'मनुष्य' लड़का, उम्र ८-६

इस बालक ने इसी अवस्था में चित्रकला प्रारम्भ की। तीन-चार दिनों के कला-वर्ग के बाद ही उसने उत्साह के साथ चित्र बनाना शुरू कर दिया। तमिलनाड की इस शाला में चित्रकला करने का यह पहला ही मौका था।

१२ 'पक्षी' लड़का, उम्र ५

बालक के मानस में अपने प्रतीक का आकार बिलकुल स्पष्ट है।

१३ 'हरा कमीज' लड़का, उम्र ६

बालक के मन पर हरे कमीज का विशेष प्रभाव हुआ था, इसलिए उसी पर उसका अधिक ध्यान रहा।

१४. 'वन भोजन' लड़की, उम्र ८-६

सारी कक्षा की सैर का पूरा वर्णन इस चित्र में है। इसके द्वारा तो बालिका ने आत्म-प्रकटन किया ही, पूछने पर बड़े चाव से चित्र की पूरी कहानी कह सुनायी।

१५ 'घोड़ा और सवार' लड़का, उम्र ८

घुड़सवार का घोड़ा चलते-चलते रुक गया और लीद करने लगा। बालक चित्रकार को इस 'ड्रामेटिक मोमेण्ट' ने कितना प्रभावित किया और उसका प्रतीक कितना स्पष्ट बन गया।

१६. 'कधा दौड़' लड़की, उम्र ९

यह बालिका चित्रकला-वर्ग में काफी पिछड़ी हुई थी। परन्तु शाला के वार्षिक खेलकूद-दिवस पर उसने यह दौड़ देखी और खेल समाप्त होते ही चित्रकला-भवन में आकर यह चित्र बनाया। उसे ऐसा अनुभव हुआ था, जिसका प्रकटन करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया।

१७. 'रानी गयी रूठ' लड़की, उम्र १०

कहानी स्वयं सुनाकर उसका चित्रण किया। यह बालिका कह रही थी कि उसे चित्र बनाने का कुछ सूझता ही नहीं।

१८ 'आगे गुरुजी पीछे हम' लड़का, उम्र १२

पहले चित्र की तरह ही एक विषय देकर कल्पना को जगाया जा सकता है। इस चित्र का विषय था "अपने वर्ग की कोई प्रवृत्ति"।

१९ लड़का, उम्र ११-६

बालक का स्वभाव उसके चित्रों में प्रतिबिम्बित होता है। वह बालक उत्साही और स्फूर्तिशील था।

२० 'कवायद' लड़का, उम्र १०-६

यह बालक भी फुर्तीला और खेल-कूद में तेज था।

२१ 'धुनकिया' लड़का, उम्र ११-८

इस चित्र में बालक का हठीलापन और उसकी दृढ़ता साफ-साफ फूट पड़ी है।

२२ 'ग्वालिन' लड़की, उम्र १३

बालिका की उम्र १३ थी, उसका मानसिक विकास १०-११ के लगभग ही हुआ था। परन्तु ज्योंही उसने चित्रकला में रुचि लेनी प्रारम्भ की, उसका विकास गति से होने लगा। वह शाला की सबसे प्रतिभाशाली 'बालक-चित्रकार' हो गयी।

२३ 'शिवाजी' लड़का, उम्र १२

वास्तविकता-वाद के प्रारम्भ का स्पष्ट उदाहरण। दाढ़ी के बालों को वास्तविक आकार देने के लिए किस प्रकार कूँची चलायी गयी है, यह देखने योग्य है।

२४ 'गुरुजी का घर' लड़की, उम्र ( ? )

स बालिका का अधिकतर काम आलंकारिक होता था।

२५ 'वर्षा का दिन' लड़का, उम्र १२-६

( वर्णन पृष्ठ-संख्या ४४ पर देखिये )

२६ 'कबड्डी' लड़की, उम्र १२

२७ 'हरिन' लड़का, उम्र १४

बालक वास्तविकता के बारे में खूब सचेत हो गया। हरिन की टाँगों के जोड़ आदि दिखाना चाहता है, पर उसमें गड़बड़ा जाता है। ड्रॉइंग में कमजोरी आने लगती है।

२८. 'गुरुजी' लड़का, उम्र ११

इस उम्र में संकोच नहीं होता, इसलिए ड्रॉइंग में जोर रहता है।

२९ ( तीसरी विमा का भान प्रारम्भ ) लड़का, उम्र १४

वास्तविकता-प्रधान अवस्था। परिप्रेक्षण का बोध आ गया।

३०. 'सहल' लड़की, उम्र १६

किशोर-अवस्था के सकोच के कारण चित्र में कमजोरी, परन्तु चित्रकला चालू रहने के कारण रंग, देश-विन्यास आदि अच्छे स्तर के।

३१. 'नववधू' लड़की, उम्र १४

यह बालिका स्वयं शृङ्गार करने की शौकीन थी, परन्तु अभाव के कारण कर नही पाती थी। शायद इस चित्र को बनाने में उसे मानसिक तृप्ति हुई, जो उसकी बातचीत से भी स्पष्ट दीखता था। ( विश-फुलफिलमेण्ट )

३२ ( स्टेन्सिल-प्रिंट ) लड़का, उम्र १३

स्टेन्सिल-कार्य चित्रकला और दस्तकारी दोनो के लिए एक सुन्दर माध्यम होता है।

३३. 'बाघ और तोता' लड़का, उम्र १२

बालक शरीर और मन दोनो से कमजोर प्रकृति का था। हमेशा शिकायत करनेवाला। एक बाघ को तोता ऊपर से चोच मारकर तंग कर रहा है—यह चित्र का विषय है। हो सकता है कि बाघ ( बेचारा उदास बाघ ) वह बालक स्वय ही है और तोता दूसरे लोग, जो उसे तग करते है। मनुष्य के अतर मानस में बहुत कुछ हो सकता है।

३४. 'रग से खेल' लड़का, उम्र ९

किसी विशेष वस्तु का चित्र नही। किन्तु आकारो के साथ खेल करना बालक पसद करते है। यह उनका बड़ा सृजनात्मक खेल होता है। हाँ, अगर बालक हमेशा ही इस तरह के चित्र बनाये, तो शिक्षक को सावधान होना चाहिए। भात बनाने में यह प्रवृत्ति मदद करती है।

३५. लड़का, उम्र ९-३

लिखाई की तरह चित्र प्रारम्भ करना, यह बालक के सकोच को प्रदर्शित करता है। इसका अर्थ यह है कि बालक को न तो 'देश' का भान ही है और नही ही उसका व्यक्तित्व खिल पाया है।

३६ ( चिडिया ? ) लडका, उम्र ९

इस वालक ने पहले ऊपर साँप वनाया, वाद में चिडिया। परन्तु उसके मन में साँप का चित्र था। साँप वनाते समय उससे वह सफलतापूर्वक नही वना। चिडिया वनाते समय साँप का मुंह सफलतापूर्वक वन गया। जव अन्दर का कोई भाव तीव्रता के साथ वाहर आना चाहता है, तो किसी तरह वह अपना प्रकटन कर ही लेता है।

३७ 'मै और मेरे माता-पिता' लडका, उम्र ६

विषयो का सुझाव देने पर इस प्रकार कल्पना-शक्ति को जगाया जा सकता है। साथ-साथ वालक के मानस को उसके जरिये समझा भी जा सकता है।

३८ प्रयोग दूसरा, वर्णन तीसरे अध्याय की पृष्ठ-सख्या ७८ की टिप्पणी में देखिये।

३९. प्रयोग दूसरा, " पृष्ठ-सख्या ७६ पर देखिये।

४०. प्रयोग पहला, " पृष्ठ-सख्या ७४ पर देखिये।

४१ प्रयोग पहला, " पृष्ठ-सख्या ७४ पर देखिये।

४२ ( आलू प्रिण्ट ) लडका, उम्र ८-१

वालक को चित्रकला के साथ-साथ दस्तकारी में भी रुचि होती है। कला-शिक्षा का यह एक मुख्य उद्देश्य है कि वालक का आत्म-प्रकटन दस्त-कारी द्वारा भी हो। 'आलू-कट' एक ऐसी सरल पद्धति है, जिससे साधारण चाकू के इस्तेमाल से अच्छे-अच्छे भातवाले नमूने वन सकते है। आलू आधा काटकर उस पर ब्लॉक वना लिया जाता है और एक कपडे के टुकडे को रग में भिगाकर उसे पैड की तरह इस्तेमाल करने पर छपाई हो सकती है।

४३. 'सडक पर आदमी चल रहे है' लड़का, उम्र ६-४

( वर्णन पृष्ठ-सख्या ८२ पर देखिये। )

४४ 'राजा' लडका, उम्र १०

मिट्टी का काम चित्रकला की तरह ही आत्म-प्रकटन का शक्तिशाली माध्यम है। गढने की भावना को तृप्ति इस काम के द्वारा अपूर्व मात्रा में मिलती है। इस मूर्ति में राजा हाथ में तलवार लिये अपने सिंहासन पर शान के साथ विराजमान है।

४५. 'आदमी अखवार पढ रहा है' लड़का, उम्र १०-६

फोटो पीछे से ली गयी है। आदमी कुर्सी पर वैठा है।

४६ 'ढोलकिया' लड़की, उम्र १२-६

रंगीन कागजों को काटकर चिपकाने से सुन्दर चित्र बन सकते हैं। यह काम कैंची मे ब्लेड से या केवल होशियारी से कागज फाड़कर भी किया जा सकता है। चिपकाने में सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि गन्दा होने का डर रहता है।

४७ 'भात' लडका, उम्र ११

रंगीन कागज के चौकोनाकार छोटे-छोटे टकडे—आधे-आधे सेण्टिमीटर काटकर अलग-अलग रख लिये जाते हैं। उन्हें सजा-सजाकर भात और तरह-तरह के चित्र बनाये जा सकते हैं। इस काम से बालक का भात का बोध खूब विकसित हो सकता है। रग-मेल का ज्ञान भी इससे बढ़ सकता है।

४८ 'मुर्गी पालन' लडका, उम्र ११

कागज के टुकडो के बदले रंगीन कपडे की कतरनो से, रुई इत्यादि अनेक प्रकार के माध्यमो से इस प्रकार चित्र बनाने से बालक की कल्पना-शक्ति को मदद मिलती है।

## लीनो प्रिण्ट


लीनो प्रिण्ट (१)—'ताई', लड़का, उम्र ९ पृष्ठ १

लीनो प्रिण्ट (२)—'बुद्ध भगवान्', लडका, उम्र १२ पृष्ठ १७

लीनो प्रिण्ट (३)—'बाजार से वापस', लड़का, उम्र १३-४ पृष्ठ ४१

लीनो प्रिण्ट (४)—'बातचीत', लड़का, उम्र १२-३ पृष्ठ ५०

लीनो प्रिण्ट (५)—'सियाल कोचवान', लडका, उम्र १४-६ पृष्ठ ८७

लीनो प्रिण्ट (६)—'हरिन', लडका, उम्र १२-६ पृष्ठ १०५

लीनो प्रिण्ट (७)—'बगीचे में लडकी', लडकी, उम्र ११-४ पृष्ठ ११०

लीनो प्रिण्ट (८)—'सम्मेलन-द्वार', लडका, उम्र १३-४ पृष्ठ १२३

लीनो प्रिण्ट (९)—'केले का पेड', लड़का, उम्र १४ पृष्ठ १५१

लीनो प्रिण्ट (१०)—'देव-मूर्ति', लडका, उम्र ११ पृष्ठ १५९



# भूमिका

"कलाकार कोई विशेष प्रकार का मनुष्य नही होता, वल्कि हर मनुष्य एक विशेष प्रकार का कलाकार होता है।"

—आनन्द कुमारस्वामी

वैसे तो यह पुस्तक कुछ वर्षों पहले ही प्रकाशित हो जानी चाहिए थी, क्योकि इसे लिखने का काम करीव ११ साल पहले आरम्भ कर दिया था। मित्र लोग वार-वार पूछते थे: "क्यों नही जल्द छपा डालते।" पर कई कारणो से वह नही हुआ, इसका मुझे आनन्द ही है। ऐसे काम मे जितना भी समय मिले, उतना ही अच्छा।

आखिर अव लगभग १४ साल के कला-शिक्षा, विशेष तौर पर वच्चो की कला के अनुभव आपके सामने हैं। 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' मे १९४४ मे यह काम शुरू हुआ था। वुनियादी तालीम के पहले पाठ्यक्रम मे चित्रकला को भी स्थान दिया गया था। मेरे काम शुरू करने के पीछे यही विचार था कि वुनियादी तालीम मे कला-शिक्षा कैसे दी जाय, इसका प्रयोग हो। वच्चो को चित्रकला सिखा देने की पद्धति तैयार कर देने का काम कर दिया, तो मेरा फर्ज अदा हो जायगा,

लीनो प्रिण्ट (१)—'ताई', लड़का, उम्र ९।

1266

ऐसी वात नही थी। कला जीवन की सावना है, कला जीवन को समृद्ध वनाती है, उससे जीवन मे लावण्य आता है, ये सव वातें मन मे स्पष्ट थी। यह वात मन मे साफ थी कि मेरा काम तथाकथित शिक्षण-पद्धति के चक्कर मे पडने का नही है। शान्तिनिकेतन के जीवन मे खास तौर पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के आदर्शो का जो परिचय हुआ था और जिनके वारे मे परम पूज्य नन्दवावू के साथ रहकर कुछ अनुभूति हुई थी, वह नये प्रयोग के लिए प्रेरित कर रही थी। गुरुदेव के जगत् से वापू के जगत् मे आया। इसमे प्रवेश करने की आकांक्षा पहले से ही थी। वापू से प्रयोग करने की इजाजत मिली। उन्होंने कहा:

"इस विपय मे प्रयोग करो। सच्ची जीवन-कला यहाँ सीखो।"

जो चित्र मन मे था, उसमे सच्चे भारत का यानी भारत के गाँव का रग चढ गया। जो कुछ भी करना है, सवके लिए हो। शिक्षा की पद्धति वही ठीक होगी, जो देश के हर वालक के लिए उपलब्ध हो।

सेवाग्राम में एक कला-विशेषज्ञ के नाते आया था। आज तक भी स्वधर्म कला-सावना ही रहा है। पर जव वच्चों की शिक्षा मे कला का समन्वय करने की वात आयी, तो सवसे वड़ा अनुभव यह हुआ कि कला-विशेपज्ञ रहकर यह काम नही हो सकता। विशेपज्ञ रहकर अधिक-से-अविक वच्चो को चित्रकला की शिक्षा देना होगा। उनका छात्रालय-जीवन, उद्योग के काम, चाल-चलन, वरताव आदि कलात्मक हो, इसीको-वापू ने 'जीवन-कला' कहा था। यह काम तो वही कर सकता है, जो २४ घटे वच्चो के साथ रहता हो। वच्चों के वर्ग-शिक्षक को ही यह काम करना है या फिर यह हो कि मुझे ही वर्ग-शिक्षक होना है। दोनों मे मुझे कोई फर्क नही लगा और मेरा एक आदर्श वन गया। उसे आशा दीदी के शव्दो मे रखना ठीक होगा। अपने काम के अनुभवो के आवार पर मेंने 'नयी तालीम' पत्रिका मे एक लेख-माला लिखना शुरू किया था। उसके आरम्भ मे जो परिचय उन्होने उस लेख-माला का दिया था, उसीमे से यह है:

"चित्रकला के खास गुरुजी समझते है कि उनका काम तभी पूरा

होगा, जव कि खास चित्र-कला-गुरुजी की हैसियत से उनकी आवश्यकता नही रहेगी।"

यह वनी प्रयोग की वुनियाद। पर एक वात सोचने की है। क्या हिन्दुस्तान के ६ लाख गाँवो की सव शालाओ मे आर्ट-स्कूलो के स्नातक ही वर्ग-शिक्षक वनेगे ? क्या यह सम्भव हो सकता है ? और अगर सम्भव हो भी गया, तो क्या हर आर्टिस्ट शिक्षक हो सकता है ? दरअसल वात यह होगी कि आर्टिस्ट ही शिक्षक नही होंगे, वल्कि सभी शिक्षक आर्टिस्ट की दृष्टिवाले होगे। यह जरूरी नही कि वे स्वय कलाकार हो। दृष्टि कलात्मक होनी चाहिए। इतने दिनो के अनुभव के वाद मै तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि वालक के दसवे, ग्यारहवे वर्ष तक तो उस कलाकार के वदले—जो कलाकार चाहे अच्छा हो, पर वच्चो के कला-गुणो को नही जानता—वह शिक्षक कला-शिक्षा का काम कही अच्छा कर सकता है, जो स्वय भले ही एक भी लकीर खीच नही सकता हो, पर वालक के कला-गुणो और उसकी आवश्यकताओ को पहचानता हो और वालक के साथ पूरी समवेदना महसूस करता हो। तव तक वालकों के शिक्षण के लिए कलाकार की दक्षता या कला की पद्धति सिखाने का प्रश्न तो रहता ही नही। केवल प्रोत्साहन देना, साघन आदि जुटाना, योजना वनाना आदि ही शिक्षक के काम होते है। जो शिक्षक वच्चो को समझता है, वह इस काम को ठीक तरह से करेगा। अगर वह कला के काम मे कुछ दखल रखता है और वालक को समझता नही, तो वार-वार वच्चो को 'सिखाने' की कोशिश करेगा, उनके चित्रों मे दस्तन्दाज़ी करेगा और इस तरह गलत शिक्षक सिद्ध होगा। वच्चो की दस-ग्यारह साल की उम्र तक जिस शिक्षक ने ठीक तरह से गाइडेन्स ( मार्गदर्शन ) देने का काम किया होगा, वह किशोर-अवस्था के प्रारम्भ तक भी अच्छा सफल शिक्षक सिद्ध होगा।

कला-शिक्षा के दो पहलू होते है। एक तो वह, जो काफी हद तक कलाकार की साधना के जैसा स्वरूप रखता है यानी चित्रकला, मूर्ति-कला, सगीत आदि की शिक्षा और दूसरा वह, जो जीवन के हर चेतन और

अचेतन क्षण में अन्तर्निहित है। दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं। एक को छोड़कर दूसरा सध नही सकता। अगर कोई यह कहे कि "चित्रकला आदि सिखाना बेकार है, कला का स्थान जीवन में अलग नही है, बल्कि वह तो जीवन मे घुली-मिली होनी चाहिए," तो यही कहना यथेष्ट है कि वह कला को समझता ही नही। क्या साधारण खेत मे अच्छी खेती करने के लिए पहले 'एक्सपेरिमेण्टल फार्म' मे प्रयोग करने नही पड़ते ? उससे भी काम नही चलता। एक प्रयोगशाला भी बनानी पड़ती है। ऐसी प्रयोगशालाएँ भी तभी सफल हो सकती है, जब कि अनेक वैज्ञानिक शुद्ध-विज्ञान के अनुसन्धान के काम मे लगे हो। यही बात कला के बारे में भी लागू होती है।

समाज मे कलाकार अपनी साधना में लगे होगें, तो समाज के जीवन मे कला का समन्वय भी ठीक ढंग से हो सकेगा। अगर यह समन्वय उचित ढंग का होगा, तो समाज में से वे व्यक्ति, जिन्हे कला का बीज जन्मजात ही मिला है, अपना विकास ठीक ढंग से कर पायेंगे। दोनों छंद साथ-साथ चले, यह शिक्षा की योजना में आना चाहिए।

हम मानते है कि आज जीवन मे कला कोई गहरा असर नही करती। आम व्यक्ति के जीवन मे उसका कोई असर नही होता। यहाँ तक कि कला-साधना करनेवाले के अपने जीवन मे भी उसका असर कम ही दीखता है। इसलिए सामाजिक उत्थान का काम करनेवाले कुछ लोग कला को बेकार चीज मानते है और चूंकि ऊपरी ढंग से कला आज विलासी और धनी लोगो की ठेकेदारी-सी बन गयी है, वे लोग कला को अवाछनीय वस्तु मानते है। वे यह नही जानते कि आज मनुष्य के व्यक्तित्व के ऐक्य का जो सन्धि-भग हो गया है, मानव-समाज के ऐक्य का सन्धि-भग हो गया है, वह केवल इसी कारण से है कि मनुष्य के हृदय की अनेक भावनाओ को तृप्ति का वह बोध नही होता, जो कला-अनुभवों द्वारा हो सकता है और होता भी रहा है। (अध्याय, किशोर-अवस्था)। हमे यहाँ भारतीय संस्कृति की दृष्टि कुछ समझनी चाहिए। "·····भारतीय दर्शन में कला ने योग के रूप में महत्त्वपूर्ण

भाग लिया है। योग का ध्येय एकाग्रता है, यहाँ तक कि विषय और विषयी का भेद भी मिट जाय। वह चेतन मे सामजस्य और ऐक्य का निर्माण करने का रास्ता है। · भारत ने यह पहचान लिया था कि कलाकार की एकाग्रता भी उसी प्रकार की है।"[1]

कुछ लोग कला को वेकार चीज इसलिए भी मानते हैं कि उससे पेट नही भरता। वे लोग यह मानते है कि कला जैसी वेकार चीज को, जिससे किसी उपयोगी वस्तु का उत्पादन नही होता, शिक्षा मे स्थान देना दृष्टि-भूल होगा। यह विचार भी आज की हलकी कला की परिस्थिति और उसके स्वरूप को देखकर आता है। वे लोग इस प्रश्न पर गहराई से सोचते ही नही कि कला क्या है। "ऐसे लोगो को, जो कहते है कि कला से क्या पेट भरेगा, एक वात याद रखनी चाहिए। · · उसी प्रकार शिल्प-चर्चा के भी दो पक्ष है : एक आनन्द देता है और दूसरा धन देता है। इन दोनो भागो का नाम 'चारु-शिल्प' और 'कारु-शिल्प' है। चारु-शिल्प की साधना हमारे दैनन्दिन दु ख-द्वन्द्व से सकुचित मन को आनन्द-लोक मे ले जाकर मुक्ति देता है और कारु-शिल्प हमारे नित्य प्रयोजन की वस्तुओं को सौन्दर्य के सुनहरे स्पर्श द्वारा न केवल हमारे जीवन-पथ को सुन्दर वना देता है, वल्कि अर्थागम के लिए भी रास्ता वना देता है। कारु-शिल्प की अवनति के साथ-ही-साथ देश की आर्थिक दुर्गति भी शुरू हुई है। अतएव प्रयोजन के क्षेत्र से शिल्प को निकाल देना राष्ट्र के अर्थागम की दृष्टि से भी अत्यन्त क्षतिकर होगा।"[2]

इस प्रकार कला-शिक्षा के अभाव से आध्यात्मिक और आर्थिक दोनो दृष्टियो से नुकसान हुआ है। कला-प्रवृत्तियो द्वारा आनन्द-लाभ होता है, इस विचार की गहराई मे न जाकर अनेक शिक्षाशास्त्री उसे शिक्षा-योजना मे स्थान तो देते है, पर कुछ निराले ढग से। वे उसे अवकाश की प्रवृत्ति मानते है। वकौल उनके, जीवन की अधिकतर शक्ति तो

---

[1] कुमारस्वामी, डान्स आफ शिव—पृष्ठ ४२।

[2] नन्दलाल वसु, शिल्प-कथा—पृष्ठ २९।

काम की चीजो में यानी उपयोगी प्रवृत्तियों में लगनी चाहिए और उसके वाद वची हुई किसी दूसरी प्रवृत्ति मे। उपयोगी प्रवृत्तियों मे श्रम करने के वाद कुछ आराम की जरूरत होती है। यह आराम ( रिलेक्से-शन ) ललित-कलाओं द्वारा मिलना चाहिए। वे यहाँ तक भी कह दते है· "विना चित्र-कला, मूर्ति-कला, सगीत, कविता और उन भावनाओं के, जो हर प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा निर्मित होती है, जीवन का आवा मजा ( चार्म ) खो जायगा।"[1] यानी कला-प्रवृत्तियाँ 'मज़े' के लिए आवश्यक है। वे जीवन के आवश्यक अंग नही। "यह मान लेना कि सौन्दर्य-वोध का विकास मनुष्य के आनन्द को वढाता है, अलग वात है, और यह मानना कि वह मनुष्य के आनन्द के लिए मौलिक आवश्यकता है, अलग वात है।" इन प्रवृत्तियो पर जोर देना वैसा ही होगा, जैसा फूल की देखरेख के लिए पौधे की उपेक्षा करना। इसलिए "...... कलाएँ चूंकि जीवन के अवकाशवाले हिस्से की चीजें है, उनका शिक्षा मे स्थान अवकाश के समय ही होना चाहिए।"[2]

अगर कला को धनियों और विलासियों की दासी वनाने के लिए कोई विचार जिम्मेवार है, तो यही है कि कला अवकाश के समय की चीज है। उससे सावारण जीवन और कलात्मक जीवन में यह भेद वन गया। इसीलिए तो लोग उन्हे सास्कृतिक प्रवृत्तियाँ ( कल्चरल एक्टीविटी ) कहने लगे। कल्चर ( सभ्यता ) की यही निशानी हो गयी कि कौन कितना अवकाग का समय 'कल्चरल प्रवृत्तियो' मे दे सकता है। इसमें और कला के वर्गीकरण ( ललित-कला और उपयोगी कला ) मे कोई अन्तर नही। कला, जो जीवन-यात्रा को समृद्ध वनानेवाली वस्तु है, उसे जीवन-यात्रा से अलग कर देने का नतीजा यह हुआ कि जीवन-यात्रा मे स्वयं तो आनन्द नही रहा, वल्कि उसकी ( जीवन-यात्रा की ) थकान मिटाने के लिए कला को मनोरंजन ( रेक्रिएगन ) की वस्तु वना दिया। कला जीवन-सावना न रहकर दासी वन गयी। दासी तो अधिक-से-अविक

[1-2] हर्वर्ट स्पेन्सर, एजूकेगन-पृष्ठ ३५—३७।

भौतिक सुख ही दे सकती है, आन्तरिक तृप्ति नही। यही कारण है कि आज कई सत्पुरुप भी कला से दूर रहना चाहते हैं और दूसरों को भी दूर रखना चाहते हैं। उनका संयम का पथ उन्हे दासी से दूर रहना सिखाता है।

उन्होंने कला को विलासिता के रूप मे ही देखा है, साधना के रूप मे नही। यह दोष शिक्षा-योजना का है। ऐसी सयमी दृष्टि रखनेवाले विज्ञान को जरूर अपनाते है। हालाँकि विज्ञान आज कला से भी कही भयानक प्रकार की दासी वन गया है, तो भी वे उसे अपनी कल्पना द्वारा शुद्ध रूप में देख लेते हैं। यह तो सभी मानते है कि विज्ञान को हिंसा की दासी वनाना या मानव-कल्याण का साधन वनाना मनुष्य के अपने हाथ की ही वात है।

शिक्षा मे विज्ञान की अधिक आवश्यकता है और कला की कम, यह विचार कुछ नासमझी का लगता है। विज्ञान और कला विपरीत वस्तुएँ नही है। वे तो एक-दूसरे की पूरक है। दोनो मानव-साधना को परिपूर्ण वनानेवाली है। इसलिए अगर विज्ञान की आवश्यकता महसूस होती है, तो कला की भी उतनी ही होनी चाहिए। हम स्वीकार करते है कि कला के आज के स्वरूप को काफी हद तक वदलना होगा। आज जो उसका स्वरूप व्यक्तिगत असामाजिक कल्पनाओं और अहंकार से भरा है, आज जो उसके रूप द्वारा उसके सच्चे आदर्शों पर आघात हो रहा है, उसे वदलकर काफी विशाल करना होगा। किसी एक वर्ग के लिए नही, वल्कि समस्त मानव के लिए उसे अपना स्वरूप विकसित करना होगा। आर्ट का सामाजिक स्वरूप और उसकी सौन्दर्य-दृष्टि का सम्पूर्ण विकास करना होगा। उसे किसी राजनैतिक, सामाजिक या कैसी भी पार्टी के प्रोपेगैण्डा का साधन वनने से भी वचाना होगा।

तभी शिक्षा का उद्देश्य परिपूर्ण होगा। इसके लिए एक वात आवश्यक है। आज होता यह है कि वाईस लोग खेलते हैं और वाईस हजार लोग उन्हे खेलते हुए देखकर मजा लेते हैं। इन दर्शकों मे से एक प्रतिशत भी खिलाड़ी नही होते। क्या यह सम्भव है कि वे खेल को

न जानते हुए ( खुद खेलना न जानते हुए ) उसे समझ सकें ? यह असम्भव है। वे खेल नही देखते, वे अपनी हार-जीत की भावना, अपने अन्दर के स्पर्धात्मक भाव के समाधान को ढूँढ़ते है। खेल-कूद द्वारा जो मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य-निर्माण होता है, उससे वह नही होता। वल्कि वह व्यक्ति मे तनाव और दवाव का कारण बन जाता है। यही वात सभी चीजों के वारे मे लागू होती है। कला के वारे मे भी यही वात है। कला केवल दर्शकों के लिए नही होनी चाहिए। वह देखने की वस्तु नही होनी चाहिए। वह तो अनुभव करने की वस्तु है। व्यक्ति को कला का अनुभव लेना चाहिए—उसे वनाने का अनुभव। कलाकार होने के लिए नही, वल्कि उसके द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व मे 'कुछ हो', उसके द्वारा हमारे शरीर में छांदिक स्पन्दन हो, मानस मे, हृदय में समवेदना का उदय हो, इसलिए। 'नृत्य हम केवल देखेंगे नही, स्वय भी करेगे। गाना हम केवल सुनेंगे नही, खुद भी गायेंगे।' चप्पल, खडाऊँ, मेज, कपड़ा, फूल सभी तैयार करने का अनुभव लेना होगा। तभी तो कला दिल को तृप्ति देगी और पड़ोसी के साथ समवेदना निर्माण करेगी।

कला का अनुभव मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था मे ही शुरू हो जाता है। दु ख की वात है कि शिशु-काल और वाल्यावस्था की यह सृजनात्मकता धीरे-धीरे लुप्त होती जाती है। आज के सामाजिक ढाँचे और शिक्षण-पद्धति के कारण यह प्राकृतिक वृत्ति किशोर-अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो जाती है। उसे कायम रखने के लिए और केवल कायम ही नही, वल्कि उसका उचित और स्वाभाविक विकास करने के लिए यह जरूरी है कि शिक्षा के कुल ढाँचे को वदला जाय।

गांधीजी और गुरुदेव ने जिस 'स्वतन्त्र मनुष्य' की कल्पना की थी, उसका विकास ऐसी शिक्षा द्वारा ही हो सकता है, जो वुनियादी तौर से सृजनात्मकता पर आधारित हो और जिसमे हर प्रवृत्ति और विपय के पीछे व्यक्तित्व के ऐक्य और समाज के ऐक्य की पुन.स्थापना करनेवाली कला-दृष्टि हो।





दो 'बेचारा मनुष्य' लडका, उम्र ११-८

शिक्षा के इस ढाँचे मे बच्चो की कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। "·····बच्चे की कला उसकी स्वतन्त्रता का रास्ता है, उसकी शक्तियो की और गुणों की सम्पूर्ण फल-प्राप्ति का भी रास्ता है तथा प्रौढ जीवन मे उसके स्थायी आनन्द और सुख का भी। कला बच्चे को अपने से बाहर निकालती है, चाहे वह एक अकेली व्यक्तिगत प्रवृत्ति के रूप मे ही शुरू हो, बच्चे का लकीरे मारना ही हो। लेकिन बच्चा लकीरे इसलिए मारता है कि वह अपनी आन्तरिक दुनिया को किसी सहानुभूतिपूर्ण दर्शक को बता सके, अपने माँ-बाप के पास अपने भाव प्रकट करे, जिनसे वह समवेदना चाहता है।"*

इस स्वातन्त्र्य से जीवन मे कला का समन्वय तो होगा ही, साथ-साथ शिक्षक को बच्चे को पूरा-पूरा समझने में मदद मिलेगी। इससे बालक के मनोवैज्ञानिक प्रकार का पता चलेगा और तदनुसार उसकी शिक्षा की योजना बनेगी। इस तरह व्यक्ति की हरएक शक्ति अपना-अपना ठीक रास्ता पा लेगी। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लेकर व्यक्ति समाज का सृजनशील अंग बनेगा।

हमारी पुरानी शिक्षा-प्रणाली में कला और जीवन का यह विच्छेद, जो आज पाया जाता है, नही था। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान-साधना था। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अधूरा नही था। उसमे जानकारी, बोध और विवेक, यहाँ तक कि अहकार का निराकरण और विनय भी आ जाते थे। विद्यार्थी केवल शास्त्रीय शिक्षण नही, बल्कि व्यावहारिक शिक्षण भी पाता था। गुरुकुल मे चला गया, तो चूल्हे के लिए जलावन चुनने से लेकर हर तरह की आवश्यक शिक्षा प्राप्त करता था। अपनी वशीय पृष्ठभूमि के अनुसार उसका शिक्षण होता था। क्षत्रिय हो तो उसे धनुर्विद्या, राजनीति आदि चतु षष्ठि-कलाओ मे प्रवीण होना पडता था। इसी प्रकार जाति और वंश के अनुसार शिक्षा पाकर वह पूरी तैयारी के साथ ससार में प्रवेश करता था। कारीगरों और साधारण नागरिको की सन्तान भी

---

* हर्बर्ट रीड, एजूकेशन फार पीस—पृष्ठ ११९।

पिता के पास रहकर अपने धंधे की शिक्षा प्राप्त करती थी और अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं का ज्ञान हासिल करती थी। यह शिक्षा अपने में सम्पूर्ण और समन्वित थी।

विदेशी राज्य के कारण देश का जीवन बिलकुल विच्छिन्न हो गया। उससे सामाजिक और सांस्कृतिक सभी मूल्य बदल गये। देश के जीवन में और शिक्षा में कोई भी सम्बन्ध नही रहा। यह विच्छेद कई शताब्दियों से प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेजो के आने पर तो वह अपनी सीमा पर पहुँच गया। लोक-जीवन और शिक्षा मे समन्वय नहीं रहा। आखिर ऐसा होता भी कैसे ? अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य तो क्लर्क तैयार करना था। उसके द्वारा तालीम पूरी-पूरी किताबी हो गयी। यूरोप के जीवन से जो सम्पर्क हुआ, उसके असर से भी यह तालीम अपने अच्छे-से-अच्छे स्वरूप मे भी किताबी ही रही। आज भी चाहे अंग्रेज चले गये, तो भी शिक्षा-प्रणाली मे कोई खास फर्क नही हुआ। बस, क्लर्कों के साथ-साथ डॉक्टर, इंजीनियर और प्रोफेसर अधिक सख्या मे बनें, यही उद्देश्य आज चालू शिक्षा-प्रणाली के सामने है। जिस सास्कृतिक क्रान्ति की आवश्यकता देश को है, उसके लिए शिक्षा मदद नही बनी। यह क्रान्ति समाज के आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक सभी मूल्यों को परिवर्तित करने के लिए चाहिए।

किन्तु उधर, यूरोप चुप नही रहा। समय के साथ-साथ उसके जीवन के मूल्य बदलते गये। उनके यहाँ शिक्षा मे भी उसी तरह परिवर्तन होते गये। नये-नये संदर्भ में शिक्षा में भी विकास होता गया। औद्योगिक क्रान्ति के बाद यह आवश्यक हो गया कि अधिक-से-अधिक कुशल कारीगर तैयार हों। साथ-साथ वहाँ एक आन्दोलन शुरू हुआ। स्कूल मे 'आँख और हाथ के कौशल की तालीम' शुरू हुई। उद्योगपतियों को इसकी आवश्यकता थी भी। तालीम मे आर्ट और ड्राइंग का बाकायदा शिक्षा-क्रम शुरु हुआ। किन्तु यह शिक्षण सच्ची कला-शिक्षा से एकदम दूर था। कला मे जो हृदय का प्राधान्य रहता है, उस शिक्षा मे वह बिलकुल नही था। वह पूरी-पूरी यान्त्रिक थी। आर० आर० टामलिन्सन ने

इस प्रणाली को 'आत्मा को नाश करनेवाली और प्राणहीन पद्धति' कहा है।*

कला-शिक्षा की उस प्रणाली के अनुसार वालको को सीधी रेखाएँ खीचना सिखाया जाता था। केवल प्रमाण का अन्दाज लगाना ही नही, वल्कि रेखाओ की ठीक-ठीक दिशाओं का और लम्व तथा समतल से भिन्न दिशावाली रेखाओ का अन्दाज करना पड़ता था।

वाद मे 'फ़्री हैण्ड' नकल करने को भी शिक्षा मे प्रवेश मिला और धीरे-धीरे उसमे आलकारिक आकारो की नकल करना भी सिखाया जाने लगा। वस्तु पर पडी हुई छाया और आलोक की छवि ठीक-ठीक वना लेना भी पाठ्यक्रम का अंग वना।

इस पद्धति ने वच्चो के दिलो मे कुछ रुचि नही पैदा की। धीरे-धीरे इन रूखी वस्तुओ ( प्यालो, ग्लासो, घनाकार, पिरामिड आदि ) के वदले वच्चो को प्राकृतिक वस्तुओ ( जैसे—फल, फूलदान आदि ) का चित्र वनाने की इजाज़त मिलने लगी। उसमे रग का काम भी जोड दिया गया और आदर्श यह हुआ कि वालक वास्तविक आकारो जैसे चित्र वना सके। लैटरिग, डिजाइनिंग को भी स्थान मिला।

यह सव जो यूरोप मे ७० साल पहले 'प्रोग्रेसिव' माना जाता था, आज भी हिन्दुस्तान की शिक्षा-प्रणाली का अग वना हुआ है। हर विद्यार्थी और शिक्षक जानता है कि वालक को इस शिक्षा मे कोई भी रुचि नही होती। क्योकि विषय महत्त्व का नही है और कठिन भी नही है, परीक्षा पास कर लेने के लिए अच्छा है, यह मानकर उसे अपना लेते है। शायद ही कुछ विद्यार्थी उसमे रुचि से हिस्सा लेते होगे।

इसका कारण तो यह है कि ये ड्रॉइग-शिक्षक ड्रॉइग मे ट्रेनिंग पाये हुए तो होते है; पर उन्हे केवल ड्रॉइग से ही मतलव होता है। उन्हे वालक के मानस से परिचय भी नही होता। वाल-मनोविज्ञान अव जिस विशाल वाल्य-जगत् का दर्शन करा रहा है, ये शिक्षक

---

* चिल्ड्रन एज आर्टिस्ट्स।

और इस शिक्षा के संयोजक उसकी कल्पना भी नहीं कर पाते। एक कारण शायद यह भी है कि कला-शिक्षा द्वारा व्यक्ति मे किस प्रकार का विकास होना चाहिए, खुद भी उन्हे इसका ज्ञान नही होता।

इसी तरह ड्राँइंग-मास्टर बच्चों पर अपने ढग की चीजों को इतने वर्षो से लादते आये है, किन्तु इसी बीच शिक्षा में अनेक परिवर्तन हो गये है। उसमें अनेक प्रकार के नये-नये प्रयोग हुए है। शिक्षा में स्वतन्त्रता का महत्त्व जर्मनी के फ्रॉयबेल नामक शिक्षा-शास्त्री ने दिखाया। इसी प्रकार कुछ अगुवा शिक्षको ने बालक की सृजनात्मक शक्ति का दर्शन कराया। कुछ ने यह सिद्ध किया कि बालक को सख्त मानसिक अनुशासन (डिसिप्लिन) मे रखना हानिकारक होता है।

यह काम तो मनोवैज्ञानिकों ने किया। इसका ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु सबसे क्रान्तिकारी काम वियेना के फ़ाज सिजेक ने किया। उन्होंने कला-शिक्षा की एक क्रान्तिकारी पद्धति का निर्माण किया। मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्रता की दुहाई के बावजूद बच्चे पर अपनी ही योजनाएँ और अपना ही कार्यक्रम लादते है। सिजेक ने सबसे अनोखी बात यह की कि बच्चे को इन बातों से पूरा-पूरा बचाया। उन्होंने स्वयं ही कहा है: "मैंने बालकों को मुक्त कराया।··· मैंने उनसे कहा कि 'तुम जो बनाते हो, वह अच्छा है।' मैंने यह सब जो किया, वह एक शिक्षा-शास्त्री के नाते नही, बल्कि एक मानव, एक कलाकार के नाते किया। ऐसी चीजे पेडेगागी (शिक्षा-शास्त्र) से नही मिलतीं। वे मिलती हैं, मानवीय कलात्मकता से।" उन्होने इतने विरोध के बावजूद बालक के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम को कायम रखा और आखिर यहाँ तक कहा कि "बालक की कला-कृति की सबसे सुन्दर वस्तु उसकी गलतियाँ है।" यही सच्ची क्रान्ति है। सच्ची और शुद्ध स्वतन्त्रता, ऐसी स्वतन्त्रता, जिसमें व्यक्ति अपने मनोवैज्ञानिक प्रकार (सॉइकोलॉजिकल टाइप) के अनुसार पूरा-पूरा विकास कर सके, कम ही शिक्षक दे सकते है।

शिक्षा-जगत् को सिज़ेक की देन अद्वितीय है। वे स्वयं एक अच्छे

कलाकार थे, किन्तु ज्यो ही उन्होंने वालक की सृजनात्मक दुनिया का दर्शन किया, वे उसमे रत हो गये। अनेक कष्टों को सहन करते हुए उन्होने वियेना मे बच्चो का एक कला-केन्द्र खोला। शहर के वालक स्वेच्छा से उसमे आते थे और उसे अपना ही स्टूडियो मानते थे। सिज़ेक के काम को देखकर अनेक मनोवैज्ञानिक प्रभावित हुए और फिर तो वह एक गास्त्र ही वन गया। 'चाइल्ड आर्ट' ( वच्चो की कला ) शव्द सिजेक का ही गढा हुआ है। उनसे पहले, वच्चे कला कर सकते है, यह कोई कल्पना भी नही कर सकता था। शिक्षक यह मानते आये है कि वच्चे के प्रयत्नो को प्रोत्साहन देना चाहिए, इसलिए उनकी कृतियो का अपना स्थान है—वे कला-कृतियाँ नही है।

लेखक का यह दावा नही है कि वच्चो की कला-कृतियाँ सयानों की कला-कृतियो जैसी हो सकती है। इसका कारण यह है कि वच्चों की कला मे सामाजिक पहलू और 'आवजैक्टिव' दृष्टि का विकास नही हुआ रहता। फिर भी "छोटे वच्चो के चित्र भी वहुत सुन्दर होते है, उनमे अचरज मे डालनेवाले रंग और छद होते है। छोटे वच्चे के काम का गुण कलाकार के काम में तव आता है, जव वह ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचता है।"*

सेवाग्राम मे वच्चो के साथ काम शुरू करने से पहले ही पूज्य नन्द-वावू से वच्चो के चित्रो के वारे में कुछ दृष्टि मिल गयी थी। एक-दो साल काम करने के वाद सिजेक के काम से, उनके वारे मे जो एकआव पुस्तक हाथ पडी उसके द्वारा, परिचय हुआ। उससे विचारधारा का एक शास्त्रीय स्वरूप वना। यूरोप मे और अमेरिका में इस प्रकार अनेक प्रयोग हुए है। सिज़ेक के सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य के विचार से कुछ लोगो का मतभेद हुआ। वे कहते है कि "वालक को मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। पूरा-पूरा स्वतन्त्र छोड देने से उसका विकास एक ही अवस्था तक होकर रुक जाता है। वह आगे नही वढ सकता।" इस तरह कला-शिक्षा

---

* नन्दलाल वसु, शिल्प-कथा—पृष्ठ २९।

की नयी-नयी पद्धतियो का विकास होता गया। धीरे-धीरे उनसे भी हमारा परिचय हुआ। भारतीय वातावरण और परिस्थिति में वे सब पद्धतियाँ काम नही दे सकती। हमारी संस्कृति और हमारी गरीवी ऐसी वाते है, जिनके कारण हमें अपना ही रास्ता खोजना चाहिए। वाहर की नकल करने से तो हम इने-गिने वालकों को ही शिक्षण दे सकेंगे। वह भी अपनी वुनियाद पर नही। वैसा शिक्षण स्वाभाविक नही हो सकता। इसी आधार पर हमने जो प्रयोग सेवाग्राम मे किये, उन्हे सभी की सेवा मे रखने की दृष्टि से यह पुस्तक लिखी गयी है।

पहले और दूसरे अध्याय में 'वड़ो की नजर से कला क्यो' और 'वच्चो की नजर से कला क्यो ?' इन प्रश्नों पर इसलिए चर्चा की है कि काम करने के लिए भूमि तैयार हो जाय। आज के ड्रॉइंग-मास्टर तो वेचारे यह भी नही जानते कि वे ड्रॉइंग क्यों सिखा रहे हैं। हमारा शिक्षक यह समझ ले कि आखिर क्यों इस 'वेकार' प्रवृत्ति को यह स्थान मिल रहा है। तभी तो उसे उसमें रुचि होगी और उसी आधार पर वह अपनी शिक्षा-पद्धति तैयार कर पायेगा।

अगले तीन अध्यायो मे 'वच्चों की और किशोरों की कला का क्या स्वरूप होता है', इसका विस्तार किया है। वह ज्ञान शिक्षक के लिए सवसे वड़ा मार्गदर्शक होता है। उसे अध्ययन किये विना शिक्षक वच्चों की कला को समझ ही नही सकता। कला-शिक्षा के वुनियादी सिद्धान्तो के आधार पर शिक्षक को अपना सौन्दर्य-वोध तैयार करने के लिए यह ज्ञान जरूरी है। वैसे तो हर शिक्षक को अपने अनुभवों के आधार पर अपने वच्चों के काम का निरीक्षण करके अपने ही नतीजो पर आना चाहिए। किशोर-अवस्था का विशेष प्रश्न है, इसलिए उस अध्याय मे शिक्षा के उससे सम्वद्ध कुछ गम्भीर प्रश्नों पर भी चर्चा की है।

शिक्षक, शिक्षा-पद्धति, ये दो अध्याय शिक्षा के कार्यक्रम से सम्वद्ध हैं। पाठको को यह नम्रतापूर्वक वताना चाहता हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक किसीको मार्गदर्शन करेगी, ऐसी धृष्टता का कोई विचार मन मे नहीं है। जो अध्याय शिक्षण-पद्धति पर है, उसमे किसी निश्चित पद्धति की

चर्चा जान-बूझकर नही की गयी। हम यह मानते है कि शिक्षक अपने बालकों, स्थानिक वातावरण और उपलब्ध साधनो के आधार पर ही अपनी पद्धति तैयार करें। अच्छी तालीम का यही सिद्धान्त है। इस अध्याय मे कुछ समस्याओ को लेकर ही चर्चा की गयी है। यह सब केवल सुझाव के तौर पर दिया गया है।

सांस्कृतिक स्तर उठाने के लिए और साथ-साथ कला-बोध का विकास करने के लिए कला-परिचय आवश्यक है। पर वह किशोर-अवस्था के नजदीक आकर ही लाभदायक होता है। उससे पहले उसका कम ही उपयोग होता है। फिर भी शिक्षक के अपने विकास के लिए तो वह बुनियादी आवश्यकता है।

अन्तिम अध्याय में प्रश्नो के उत्तर है। शिक्षा-पद्धतिवाले अध्याय मे इतनी बातें कहनी सम्भव नही होती, जितनी प्रश्नोत्तरी की पद्धति मे हो सकती है। शिक्षको और बालको को बच्चो की कला के बारे मे अनेक समस्याओ को हल करने मे सहायता प्रश्नोत्तरी से ही अच्छी तरह मिल सकती है। इसलिए इन पिछले वर्षो मे शिक्षको और पालको ने मुझसे जो प्रश्न पूछे, उन्हे उत्तर के साथ दिया है। उनके अलावा कुछ प्रश्न विलहेम वियोला की पुस्तक 'चाइल्ड आर्ट' से भी ले लिये है। उसके लिए मैं श्री वियोला का आभारी हूँ।

परिशिष्ट की क्या आवश्यकता थी, यह प्रश्न मेरे मन मे था। परन्तु कुछ ऐसी बाते, जिनका सम्बन्ध बच्चो की कला से गहरा है, परन्तु जिनकी चर्चा विस्तार से पुस्तक के अध्यायो मे नही की गयी है, उन्हे देना था। कुछ लेख विभिन्न पत्रिकाओ मे इन प्रश्नो को लेकर लिखे थे, उन्हे वैसा-का-वैसा ही परिशिष्ट के रूप मे देना उचित समझा। सहायक ग्रन्थो की सूची देना औपचारिक मानकर नही, बल्कि यह सोचकर कि आगे अध्ययन करने के लिए पुस्तके सग्रह करने मे सहायता मिले, दी गयी है।

अपने ये अनुभव शिक्षा-जगत् के सामने विनयपूर्वक रख रहा हूँ। अगर इससे बच्चो के पालको और शिक्षको को कुछ सहायता मिले, तो

अपने-आपको कृतार्थ समझूंगा। इस पुस्तक को तैयार करने के पीछे एक आकांक्षा रही है, उसे गुरुदेव के शब्दो मे ही रख देना ठीक है: "शिशु की ज्ञान-शिक्षा विश्व-प्रकृति के उदार रमणीय अवकाश के द्वारा उन्मेषित हो।" आज शिक्षा बालक के ऊपर बोझ बनकर सवार है। उसे आनन्दमय होना चाहिए। अगर यह विचार इस प्रयत्न के द्वारा एक शिक्षक के हृदय को भी स्पर्श कर दे, तो अपने-आपको धन्य मानूंगा।



पहला अध्याय

# कला-शिक्षा क्यों ?

"अनुराग चाहिए, धैर्य भी चाहिए, साधना की सफलता भी। कला-चर्चा एक साधना ही है, शौक नही।"

—नन्दलाल वसु

शिक्षा की योजना बहुत समझ-बूझकर बनानी पड़ती है। उसका आधार मुख्यत: दो बातो पर रहना चाहिए। मानव-समाज के जो आदर्श तैयार हुए है, शिक्षा का उद्देश्य हो कि उसके द्वारा व्यक्ति उन आदर्शो की तरफ बढता रहे। मानव सस्कृति का जो 'पैटर्न' तैयार करना चाहता है, शिक्षा उस पैटर्न का निर्माण करे। दूसरा आधार होगा, व्यक्ति और समाज का गुण-धर्म। यानी आदर्श चाहे कितना भी ऊँचा क्यो न हो, शिक्षा का तरीका इस गुण-धर्म को सामने रखते हुए ही बनेगा। व्यक्ति के गुण-धर्म को भूलकर अगर उसकी तालीम की योजना बनेगी, तो वह व्यावहारिक नही होगी। इसका कारण यह है कि जिसे ढालना है, उसे उसके गुण-धर्म के आधार पर ही ढाला जा सकता है। कोई मूर्ति बनानी होती है, तो पहले जिस माध्यम मे बनानी है, उसके चरित्र को समझना पडता है। लकड़ी की होगी, तो खुदाई द्वारा और कांसे

लीनो प्रिण्ट ( २ )—'बुद्ध भगवान्', लडका, उम्र १२।

की होगी, तो वह ढलाई द्वारा बनेगी। इसी प्रकार शिक्षा की योजना सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्श और मनुष्य-स्वभाव दोनों के मिलान से ही बननी चाहिए।

बालक के गुण-धर्म की, विशेषत. उसके कला-स्वभाव की चर्चा अगले अध्याय मे करेंगे। यहाँ कला से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों को समझने का प्रयत्न करें। आज एक आम रिवाज-सा हो गया है: शिक्षा का काम करनेवाले कहते है कि कला बालक के सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। इसी तरह शिक्षाक्रम मे और भी विषय जोड़े जाते है। पर यह बात कि अमुक विषय के द्वारा अमुक कारण से विकास होता है, बहुत कम शिक्षक सोचते है। अगर सोचते भी है, तो कुछ ऊपरी बातों पर ही ध्यान देते हैं। इतिहास मे देखा गया है कि जबसे शिक्षा की योजना सोच-समझकर बनने लगी, तभी से ऋषियों और चिन्तकों ने शिक्षा के विषयों को, उनके द्वारा होनेवाले विकास के बारे में अच्छी तरह सोचकर ही रखा। गणित सिखाने का अर्थ यह नही है कि उससे व्यावहारिक जीवन में लाभ हो, क्योकि अधिकतर लोगों के व्यावहारिक जीवन में उच्च गणित के सिद्धान्तो से कोई मतलब नही पड़नेवाला होता, फिर भी उसे अच्छे शिक्षण का आवश्यक अंग माना गया है। इसका कारण है कि गणित की शिक्षा से एक विशेष मानसिक विकास होता है, जो किसी अन्य विषय के सिखाने से नही होता। किन्तु अगर गणित सिखाने पर भी उसका यह लाभ न हो, तो उसे शिक्षा मे स्थान देने का कोई अर्थ नही होता। इसलिए शिक्षक को अपने विषय के व्यावहारिक और चारित्रिक दोनों पहलुओं के बारे मे खूब गहराई से चिन्तन कर लेना चाहिए।

इसी तरह कला सिखाने का मतलब केवल हाथ के काम मे दक्षता हासिल करना नहीं होता; कुछ चित्र और दस्तकारी की खूबसूरत चीजों का निर्माण मात्र उसका ध्येय नही होता। कला-शिक्षा के पीछे व्यक्ति के चरित्र, उसके सामाजिक बोध और सौन्दर्य-बोध का विकास करने का उद्देश्य होता है। कला-शिक्षा में हाथ का काम (कला-कौशल)

तो साधनमात्र है, साध्य तो गुण-विकास है। इसी विचार को सामने रखते हुए हम कला का जीवन में क्या महत्त्व है, इसकी विस्तार से चर्चा करेंगे।

## भौतिक जीवन का सौन्दर्य

सबसे पहली और स्थूल बात तो सभी कहते है: 'कला के द्वारा हमारे जीवन मे सौन्दर्य-निर्माण होता है', यानी रोजाना के जीवन मे इस्तेमाल होनेवाली चीजे सुन्दर बने, यह कला का एक ध्येय है। जब लोग किसी पुरानी सस्कृति के बारे मे कुछ कहते है, तो पुरातत्त्व-विभाग द्वारा खोज निकाली गयी वस्तुओ के आधार पर ही कहते है कि अमुक सस्कृति या सभ्यता उच्च कोटि की थी या नही। सिन्धु-सभ्यता एक परिपक्व सभ्यता थी, यह मोहनजोदड़ो मे मिली वस्तुओ की बुनियाद पर ही कहा जाता है।

आज भी बड़ी-बडी फैक्टरियो मे जो वस्तुएँ बनें, वे सुन्दर बने, इस विचार से कलाकारो की मदद ली जाती है। इसके पीछे प्रयत्न यही होता है कि हम जो कुछ भी बनाये या इस्तेमाल करे, वह सुन्दर हो। यह काम कला का है। इसीलिए जहाँ-जहाँ वस्तुएँ बनती है, चाहे फिर वे बडी फैक्टरियो मे बने या कारीगरो की कर्मशालाओ मे, वहाँ कलाकारो को युक्त कर दिया जाता है। इन कलाकारो का काम होता है—कारीगरो को आकार, रग आदि के बारे मे मार्गदर्शन देना। अगर जीवन मे सौन्दर्य का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो कला-शिक्षा को आम शिक्षा का एक अंग हो जाना लाजिमी हो जाता है।

किन्तु आज हालत क्या है ? क्या जो चीजे हमारे घरो मे, बाजार मे, दफ्तर मे या कही भी हम इस्तेमाल करते है, वे सुन्दर होती है ? दु:ख के साथ कहना पडता है कि जिस देश की परम्परा अत्यन्त ऊँचे स्तर की कलात्मकता की थी, आज वहाँ बिलकुल नीचे दर्जे की रुचि की वस्तुओ से जीवन घिरा है। शरीर पर पहनने के कपडो को ही लें। वस्त्र-कला की कहानी अगर लिखी जाय, तो जहाँ पट्टन के पटोले,

सम्वलपुरी, चन्देरी, पैठनी, वालूचरी* आदि का जिक्र किया जायगा, वहाँ आज स्त्रियाँ वायल, जार्जेट आदि की हलकी रुचि की साड़ियाँ पहनने मे गर्व महसूस करती हे। जिस देश मे काँसे के अत्यन्त कलात्मक वर्तन वनते थे और आज भी वनते हे, वहाँ एल्यूमीनियम आदि के वर्तन फैशनेवल माने जाते हैं और वेचारे काँसे के वर्तन वनानेवाले कारीगर आधा पेट भूखे रहकर दिन गुजारते हे। छोटी-से-छोटी चीजों को ही ले ! जैसे: वच्चों के खेलने के लिए खिलौने। शायद ही दूसरा कोई ऐसा देश होगा, जहाँ खिलौनो की परम्परा इतनी समृद्ध और कलात्मक हो। पर हालत यह है कि साप्ताहिक पेठ और वाजारो में प्लास्टिक के खिलौनों की भरमार रहती है। अगर देशी खिलौने वेचने के लिए कोई कारीगर भूला-भटका वहाँ आ भी जाय, तो उसे उन्हें पीठ पर लादकर वापस घर ले जाना पड़ता है।

हमारे समाज की रुचि इस तरह की हो गयी है। सुन्दर और वदसूरत वस्तु को परखने की शक्ति विलकुल दीखती ही नही। ऐसे लोग भी हे, जिन्होने खूव धन खर्च करके घर मे प्राचीन कला-कृतियो का अच्छा खासा संग्रह कर लिया है। इसलिए उन्हे समाज में आजकल अधिक सभ्य भी माना जाता है और कला के 'कनोज़र' ( कला के जानकार ) माना जाता है। किन्तु यह आवश्यक नही कि उनके जीवन मे इस्तेमाल होनेवाली चीजे सचमुच खूवसूरत हों। जीवन में लावण्य और लालित्य की वात तो छोड़ ही दे।

इसका क्या कारण है ? यह चर्चा करने के पहले इसके वारे मे शिल्पगुरु नन्दलाल वावू क्या लिखते हे वह देखें: "लोग कला-चर्चा पर विलासी और धनी व्यक्तियों का एकमात्र अधिकार मानकर उसे दैनन्दिन जीवन-यात्रा से अवज्ञा के साथ निर्वासित रखना चाहते हे। वे भूल जाते हे कि सुषमा ही शिल्प का प्राण है, अर्थमूल्य से शिल्पवस्तु का विचार नही हो सकता। गरीव संथाल अपने मिट्टी के घर को

---

* ये सव पुरानी शैलियों की साड़ियो के नाम हैं।

लीपकर मिट्टी के बर्तनो और फटी गुदड़ियो को सँभालकर रखता है और कॉलेज मे पढ़े कितने ही शिक्षित लड़के प्रासादोपम होस्टलो या मेसो के कमरो मे कीमती कपड़ो तथा सामानों को इधर-उधर बिखेरकर अशोभन बनाये रखते है। यहाँ दरिद्र संथाल का सौन्दर्य-बोध उसकी जीवन-यात्रा के अंगभूत और सजीव है, धनी सतान का सौन्दर्य-बोध दिखावटी और निर्जीव है। शिल्प-उपासना के नाम पर कैलेण्डर की मेम साहिबा का चित्र फ्रेम मे मढवाकर शिक्षित व्यक्ति के घर में सचमुच अच्छे चित्र की बगल में लटकाया गया है, यह भी देखता हूँ। विद्यार्थियो में देखता हूँ कि चित्र के फ्रेम पर कुरता टँगा है, पढ़ने की मेज पर चाय का प्याला, आईना, कघी और कोको के टिन मे कागज के फूल सजाये हुए है। वेश-विन्यास मे धोती पर खुले गले का कोट, साडी के साथ मेम साहिबी खुरवाला जूता—इस तरह सर्वत्र सुषमा का अभाव है। हमारे पास धन हो या न हो, यह सौदर्य-बोध का दैन्य सूचित करता है।"*

इस दैन्य का क्या कारण है ? यही कि कला का जीवन के साथ जो समन्वय होना चाहिए था, वह टूट गया है। इस समन्वय के टूटने का मुख्य कारण यंत्र-युग के अन्दर ही है। इसमे यत्र-युग को दोष देने की बात नही, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यत्र-युग को ही कला और जीवन के इस विच्छेद की जिम्मेवारी का साझीदार होना होगा। यत्र-युग मे वस्तुओं के निर्माण करने के साधन एकदम बदल गये। हर व्यक्तिगत वस्तु कारीगर के अपने हाथ से न बनकर मशीन द्वारा हजारो, लाखो की सख्या में बनने लगी। मनुष्य का हाथ तक उनमें लगने की जरूरत नही रही एक ही नाप, परिमाण आदि की एक ही जैसी एक से अधिक सख्या मे वस्तुएँ बनाना उसका ध्येय होता है। पर जब कारीगर प्रत्येक वस्तु को अपने हाथ से बनाता है, तो प्रत्येक वस्तु मे उसके उस क्षण के व्यक्तित्व का प्रकाश होता है। यहाँ तक कि कुम्हार के चाक

---

* शिल्प-कथा [ हिन्दी ]—पृष्ठ २८।

पर बनाये बर्तन, जो मामूली नजर से देखने पर भले ही एक जैसे दीखते है, पर बारीकी से देखा जाय, तो उनमे से हरएक कुछ-न-कुछ अलग होगा।

यंत्र-युग तो आया, पर हमारे सौदर्य-बोध के मापदड वे ही हस्त-उद्योगवाले रहे। उन्हे साधन के हिसाब से बदलने मे स्वाभाविक ही समय लगेगा। यंत्र-युग के इतने अनुभव के बाद आज ये मापदंड भी बदल रहे है। यत्र ने तो वस्तु की उपयोगिता की दृष्टि से उसका निर्माण किया, पर हस्तकला के मापदड के अनुसार उसे उसी ढंग से सुन्दर बनाने की कोशिश की गयी। यानी उपयोगिता और सुन्दरता का विच्छेद, जो यत्र-युग से पहले ही जमीदारी और 'फ्यूडल' जमाने मे शुरू हो चुका था, यत्र-युग मे आकर बिलकुल ही स्पष्ट हो गया। यह सब यूरोप मे घटा।

कला में एक नया वर्गीकरण शुरू हुआ। कला की उस प्रवृत्ति को, जिसके द्वारा 'उपयोगी' ( इस्तेमाल की चीजे ) वस्तुएँ नही बनती, 'फाइन आर्ट' ( ललित-कला ) कहा जाने लगा। इसमे चित्रकला, मूर्ति-कला, संगीत, कविता और वास्तुकलाएँ आती है। वह कला, जिसके द्वारा उपयोगी वस्तुओ का निर्माण होता है, उसे 'अप्लाइड आर्ट' ( उपयोगी कला ) नाम मिला। हिन्दुस्तान मे आरम्भ से ही कला के कोई अलग विभाग नही थे। प्राचीन शास्त्रों मे कलाओ की कई सूचियाँ मिलती हैं। बौद्ध-ग्रथो मे ८४ कलाएँ बतायी है, जैन-ग्रंथो मे ७२ और वात्स्यायन के ग्रथ मे ६४। इससे यह स्पष्ट है कि कलाओ की कोई निश्चित सख्या नही हो सकती। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात देखने की यह है कि इन सूचियो मे सगीत, नृत्य, शृङ्गार, बढई-काम, सिलाई आदि सभी कलाएँ एक ही सूची मे एक ही स्तर पर दी गयी है। वहाँ कोई कला उच्च स्थानवाली और कोई निम्न स्थानवाली, ऐसा नही माना गया है। पर मध्यकाल मे कला के जो दो वर्ग यूरोप मे बन गये, उनके कारण सच्ची कला और जीवन मे विच्छेद पड गया।

यूरोप मे भी मध्ययुग से पहले कला का उद्देश्य हमेशा किसी-न-किसी उपयोगिता के साथ जुडा हुआ रहा, चाहे वह उपयोगिता आध्या-

त्मिक, धार्मिक हो या व्यावहारिक। परन्तु १६वी शताब्दी से कला का एक ध्येय अमीरो का मनोरजन आदि भी हो गया। जो कलाकार शक्तिशाली होते थे, उनका झुकाव इस कला की तरफ, जिसे 'शुद्ध कला' भी कहा गया, हो गया। जो शक्ति अभी तक हर तरह के निर्माणात्मक कामो मे लगती थी—चाहे वह चित्र बनाने का काम हो, चाहे इस्तेमाल की चीजे—वह अब केवल ललित-कलाओ मे लगने लगी। कारीगरो मे से जो सृजनात्मक शक्ति रखते थे, वे भी धीरे-धीरे ललित-कला की ओर जाने लगे और इस तरह इस्तेमाल की चीजो का कलात्मक स्तर धीरे-धीरे नीचा हो गया। 'फाइन आर्ट' के विपरीत दूसरा शब्द बना : 'अप्लाइड आर्ट'। हिन्दी मे इसका अनुवाद 'उपयोगी कला' किया गया, जो शब्द का ठीक अनुवाद नही है। 'अप्लाइड आर्ट' शब्द का अनुवाद करना कुछ कठिन है। जब कि कोई वस्तु सृजनात्मकता के पैमाने से नीची बनेगी और उसे 'कलात्मक' बनाना जरूरी होगा, तो उस पर कला को ऊपर से चिपकाना पड़ेगा। यानी 'अप्लाइड आर्ट', 'आर्ट अप्लाइड' हो जायगा। वही आज होता है। बाजार मे वे ही चीजे सुन्दर मानी जाती है, जो ऊपर से खूब अलकृत हो; जिनमे सच्ची कलात्मकता के बदले दस्तकारी की कुशलता अधिक दीखे। वह चीज, जिसका केवल आकार या अलकार-रहित रूप सुन्दर न हो, जो 'कला की कृति' न हो, लेकिन अलकार से भरी हो, सुन्दर मानी जाने लगी। इसका नतीजा दोहरे मायने मे नुकसानदेह हुआ। एक तो यह कि जीवन मे इस्तेमाल आनेवाली वस्तुएँ ठीक अर्थ मे सुन्दर नही रही। उससे भी अधिक गहरा हानिकारक असर यह हुआ कि समाज को सच्चे कलाकारो की सेवा से वचित रहना पडा। ये कलाकार केवल धनी वर्ग के मनोरजन के काम मे लग गये।

भारतवर्ष मे परिस्थिति अलग थी। क्योकि यहाँ यंत्र-युग का असर बाद मे आया और यरोप की हलकी नकल करते हुए आया, इसलिए पुरानी परम्पराएँ बिलकुल टूटने लगी। आज तो वे परम्पराएँ लगभग पूरी-पूरी टूट गयी है। जो कुछ बचा है, वह दो कारणो से बचा है। एक

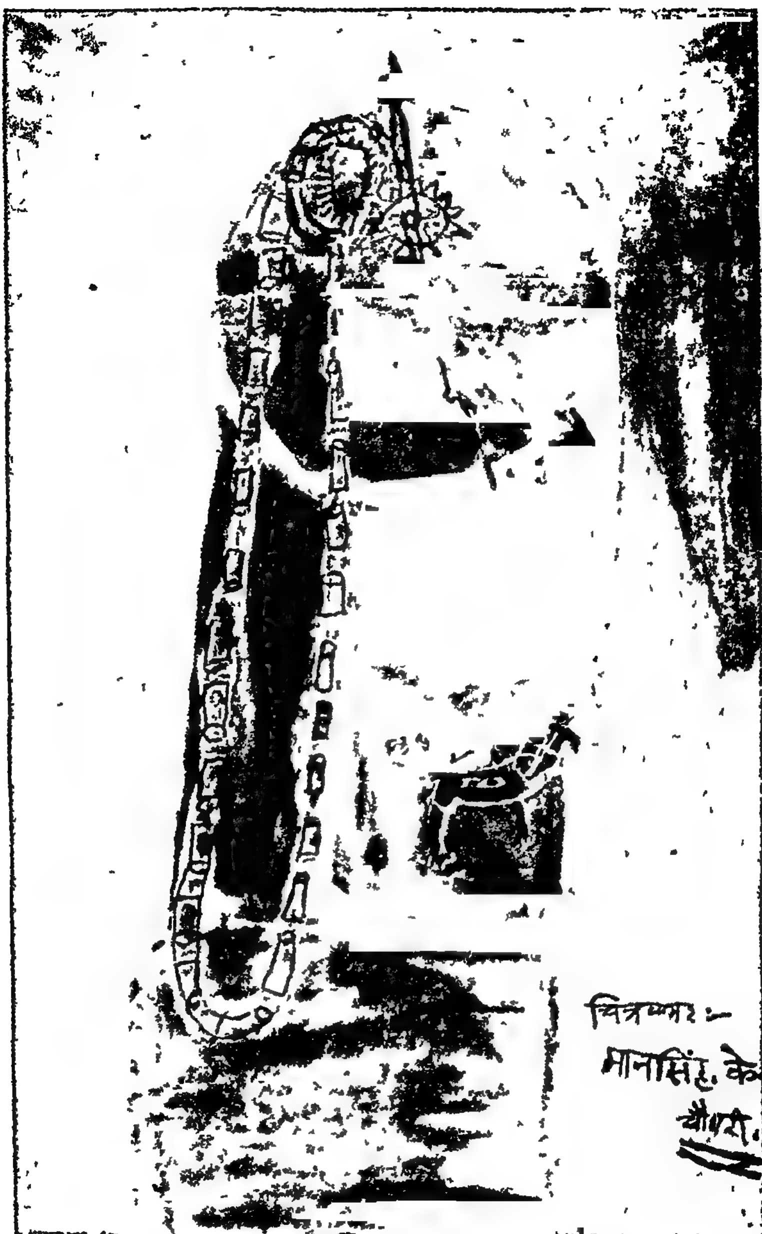
तो इसलिए कि हमारा देश गाँवो का देश है । साथ ही देश गरीव है, इसलिए यत्र-युग को अन्तर तक प्रवेश करने में समय लगना स्वाभाविक ही है। दूसरा कारण यह है कि पुरानी परम्पराएँ इतनी ठोस थी कि उन्हे आसानी से फेका नही जा सकता। इस देश की संस्कृति की वुनियाद इतनी गहरी रही है कि आज के जमाने में भी कई ऐसी वातें है, जो आधुनिकतम शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति भी कहीं-कही वनाये रखने में गर्व महसूस करता है। पुरानी दस्तकारी की कितनी ही वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनका मुकावला करने में आधुनिकतम 'डिजाइनर्स' भी झिझकेंगे। परन्तु यह सांस्कृतिक कलात्मक अवशेष अव कुछ खसता हालत मे है। चालू शिक्षा-प्रणाली वडी सफलतापूर्वक उन्हे काफी रफ्तार से मिटा देने की गति में है। जितनी गति से 'शिक्षा का प्रसार' होगा ( और जो हो रहा है ), उतनी गति से ही हमारे जीवन का परम्परागत सौंदर्य खतम होता जायगा—इस्तेमाल की वस्तुएँ वदसूरत होती जायँगी। वचा-खुचा जो सग्रहालयो में स्थान पा रहा है, वह भी देखने को नही मिलेगा।

जो चीजे आदमी वनाये, वे खूवसूरत हों, इसके लिए सवसे पहली आवश्यकता है कि समाज के हर व्यक्ति को सुन्दर वस्तु चुनने की विवेक-वुद्धि हो। पुराने जमाने में यह वात आसान थी, क्योकि परम्परा के कारण व्यक्ति चुनना जानता था और समाज की शिक्षण-पद्धति में भी यह शिक्षा आ जाती थी । साथ ही एक कारण यह भी था कि जो वस्तुएँ उपलव्ध थी, उनमें से अधिकतर स्थानिक होती थी। हर व्यक्ति हर कारीगर को अच्छी तरह जानता था। कला, कलाकार और ग्राहक की आत्मीयता के कारण कला-वोध की शिक्षा स्वाभाविक ही मिलती रहती थी। परन्तु आज जव कि कला-वोध में यह विप्लव ( केओस ) घट चुका है और हर व्यक्ति के सामने सारे संसार की चीजे उपस्थित होती है, इस स्थिति मे ठीक चुनाव करने की शक्ति का निर्माण असम्भव ही है। यह तभी सम्भव होगा, जव कि शिक्षा में सुन्दर और असुन्दर को पहचानने की तालीम देने की योजना वनेगी।



तीन 'पक्षि'

लड़का, उम्र १२



चार 'जब मैं कुवे मे गिरा' लड़का, उम्र १२-६

कला-वोध कैसे निर्माण होगा, इसकी चर्चा आगे चलकर विस्तार से की गयी है। यहाँ वस्तुओ के निर्माण से जो पहलू सम्वन्ध रखता है, उसे समझने का प्रयत्न करेगे। कोई भी कारीगर जव कुछ वनाना चाहता है, तव या तो वह पुरानी चली आयी भाँत से इस वस्तु को वनाये या अगर कुछ नया वनाना है, तो उसे नयी भाँत का निर्माण करना होगा। आज प्रश्न नयी भाँत के निर्माण करने का है। दरअसल हर कारीगर या कलाकार विलकुल नये आकारो का निर्माण नही कर सकता। विलकुल मौलिक दृष्टि से नवीन भाँत का निर्माण करनेवाले कलाकार हर युग मे इने-गिने ही होते है। पर मनुष्य की 'नवीनता' की भूख की तृप्ति करनेवाली नयी-नयी भाँत वनाने की शक्ति अच्छी ट्रेनिंग से हासिल की जा सकती है। इसका एक तरीका यह है कि दूसरे प्रान्तो और देशो की अच्छी-अच्छी वस्तुओं की वुनियाद पर नयी भाँते वनायी जायँ। इससे सौदर्य-वोध भी वनेगा और 'नवीनता' का पहलू भी सधेगा।

इस सिलसिले में यह वात कह देना आवश्यक है कि हमारी पारम्परिक वस्तुओ की वार-वार वकालत करने से गलतफहमी नही होनी चाहिए। हम इस वात को विलकुल ही नही मानते कि आज भी पुराने आकारो और भाँतो को ही खीच-तानकर जीवित रखे और नये-नये डिजाइन न वनाये। इसमे कोई शका नही कि जैसे-जैसे समय वदलता है, वैसे-वैसे कला के आकार, पैटर्न आदि भी वदलते है। परन्तु यह एक साधारण-सी वात है कि चूंकि एक सचमुच सुन्दर वस्तु, जो उपयोगी भी है पर पुरानी है, इसलिए उसे अपनाना नही चाहिए, यह मानना मूर्खता है। कला-वोध का अभाव ही मनुष्य को ऐसी भावना देता है। अगर सचमुच नयी भाँतो का आविष्कार करना है, तो कलाकार को परम्परागत कला और प्रकृति दोनो का गहरा अध्ययन करना पडेगा। आज तक जितनी भी मूल कृतियाँ कला मे हुई है, वे इसी गहरे अध्ययन के नतीजे है। इसलिए समाज मे व्यक्तियो की सृजनात्मक शक्ति का विकास करने के लिए दोनो चीजे उपलव्ध होनी चाहिए—परम्परागत कला और प्रकृति।

कलाकार खोज करने की पद्धति परम्परा के द्वारा सीखता है और खोज की वस्तु ( कलात्मक आकार ) प्रकृति मे से पाता है । प्रकृति में जो कुछ कला का व्याकरण और उसका गणित छिपा पड़ा है, उसे खोजना कलाकार का काम होता है । यह काम जन्मजात कलाकार ही कर सकते हैं । पर चूँकि हम कलाकार और दस्तकार 'फाइन आर्ट' और 'अप्लाइड आर्ट '( ललित-कला और उपयोगी कला ) मे अन्तर रखना नहीं चाहते, हर दस्तकार, चाहे वह ऊँची श्रेणी का जन्मजात कलाकार न हो, उसके सृजन करने का रास्ता कलाकार का ही होगा ।

ऐसा वातावरण बनाने के लिए केवल शिक्षा ही जिम्मेवारी ले सकती है । यह शिक्षा हर व्यक्ति को मिले, कलाकार, दस्तकार के सृजन करने के रास्तों से हर व्यक्ति परिचित हो, प्रत्यक्ष रूप से परिचित हो, यह काम शिक्षा को करना चाहिए । कला का यह उद्देश्य कि जीवन में इस्तेमाल आनेवाली वस्तुएँ सुन्दर हों, शिक्षा के द्वारा ही सध सकता है ।

## प्रकृति-परिचय : बन्धुत्व

सच्ची कला-शिक्षा द्वारा, जैसा कि ऊपर कहा गया, सौदर्य-निर्माण तो होगा ही, पर उसका ध्येय केवल भौतिक जीवन तक ही सीमित नही है । मनुष्य के हृदय की गहरी सतह तक कला का प्रवेश है ।

कला-साधना के लिए प्रकृति को समझना पड़ता है, उसका पूरा-पूरा अध्ययन करना पड़ता है । कलाकार का यह अध्ययन ऊपरी नही होता । वह उसे प्रकृति की गहराई मे उतारनेवाला होता है । कलाकार इस अध्ययन के द्वारा प्रकृति मे इतना एकात्मबोध अनुभव करता है कि धीरे-धीरे सब-के-सब उसके मित्र बन जाते है । नन्दबाबू ने एक बार एक विद्यार्थी को, जो एक वृक्ष की स्टडी ( अध्ययन ) कर रहा था, कहा था : "तुम आज जो इस वृक्ष की आराधना कर रहे हो, चित्र बना रहे हो, अगर सचमुच ही यह अच्छा लग जाता है, तो यह तुम्हारे सारे जीवन के लिए सचित होता जा रहा है । जीवन मे कभी शायद अशेष दु.ख पाओगे, प्रियजनों को खोना पड़ेगा, संसार शून्य लगेगा, तब रास्ते के किनारे

से यह वृक्ष कहेगा, 'यहाँ मैं हूँ ।' तुम्हे सान्त्वना मिलेगी । यह तुम्हारा अक्षय संचय है ।...'' दूसरे समय एक वार कहा "असल वात यह है कि जिस चीज का चित्र वनाओगे, वह अच्छी लगनी चाहिए । उसे तुम्हारा मन हर लेना चाहिए । तव वह अच्छा लगना तूलिका की नोक पर अपने-आप निखर उठेगा । तभी यथार्थ मे चित्र वनेगा । चित्र वनाने का यही सवसे वडा, सवसे गूढ कौशल है ।"

कला-शिक्षा का यह भी उद्देश्य है कि व्यक्ति को प्रकृति के साथ इस वन्धुत्व का अनुभव हो । आज विशेष तौर पर इस शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है । आदमी का हृदय इतना सकुचित हो गया है कि पेड-पौधो आदि की वात तो छोड़ दे, उसे अपने पडोसी मानव के लिए भी सच्ची संवेदना नही रह गयी है । इस स्वार्थमय युग में शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि चाहे उससे व्यक्ति कुछ और चीज सीखे या न सीखे, उसे साथियों, सहजीवियो के साथ गहरी संवेदना की अनुभूति तो अवश्य ही हो । हृदय मे सवेदना का निर्माण करने के लिए ऐसे विपय और प्रवृत्तियाँ चुननी होगी, जिनसे मनुष्य की सूक्ष्मतम सवेदना जाग्रत हो ।

कला-शिक्षा इस काम को करती है । कलाकार का मन इतना मुलायम हो जाता है कि अगर उसके सामने कोई पेड़ काटे या किसी अनुचित कारण से फूल तोड़े, तो उसे दु ख होता है । दु ख इसलिए होता है कि वह उस फूल की सुन्दरता को पहचानता है और यह फूल की सुन्दरता उसकी परिचित होती है । उसे अपनी परिचित वस्तु को क्षति होते देखना सहन नही होता । वह जव स्वयं भी फूल तोडता है, तो हमेशा किसी-न-किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए ही तोडता है । उसका उद्देश्य या तो सौन्दर्य का निर्माण करना या किसी प्रियजन या पूज्यपात्र को अर्पण करने का होता है । अर्पण प्रिय वस्तु का ही होता है, फूल भी उसकी प्रिय वस्तुओ मे से होता है ।

इस प्रकार कलाकार की दृष्टि को, जो किसी-न-किसी परिमाण मे कला-शिक्षा द्वारा हर व्यक्ति मे निर्मित होगी, नन्दवावू ने इन शब्दो में कहा है : "जो कलाकार है, सर्वत्र सभी उसके मित्र हे । वह कभी नि सग नहीं

होता। तुम अच्छे लग रहे हो। तुम चले गये, पेड़ अच्छा लग रहा है। पेड़ भी नही है, तो यह दर्वाजा ही अच्छा लग रहा है। अच्छा क्यो लगता है, कहना कठिन है। पर आवेग-प्रवण अच्छा लगने या अपनी चीज होने के कारण अच्छा लगने मे गहराई कम होती है। कुतूहल के कारण अच्छा लगना चिरस्थायी नही होता। एक प्रकार का अच्छा लगना और है, वह है—गहरी एकात्मानुभूति।.... सभी गहरा आश्वासन दे रहे हैं, सभी मित्र जो है।"

कला के द्वारा प्रकृति-परिचय का वक्तृत्व के अलावा एक दूसरा पहलू भी है। वह प्रकृति के वाहरी आकार से सम्बन्ध रखता है। इसके भी दो प्रकार है: एक तो वह, जो हमारे आसपास की चीजों की विद्यमानता ( अेक्ज़िसटेन्स ) के वारे मे हमें सचेतता ( अवेअरनेस ) देता है और दूसरा वह, जो हमारी आँख से सम्बन्ध रखता है। यानी जिसमे चाक्षुष-शक्ति का प्रश्न आता है।

## सचेतता

आँख किसी वस्तु को देखे या न देखे, पर मै उस वस्तु की विद्यमानता के वारे में सचेत हूँ, मझे उसकी विद्यमानता का भान है, यह वृत्ति हर व्यक्ति मे होनी चाहिए। हमारे चारों तरफ क्या है, किस तरह का है, किस आकार का है, यह सव जानने से इसका मतलव नही। वल्कि मतलव 'कुछ है' इस वात को महसूस करने से है। वस्तु के स्मृति-प्रतिविम्ब से भी इसका इतना सरोकार नही, क्योकि वह भान अन्धे को भी होना चाहिए। आँख न होने पर भी यह सचेतता व्यक्ति मे होती है, इसका अपने अनुभव के आधार पर एक उदाहरण देता हूँ। मेरे एक मित्र थे, जो जन्म से ही आँख से लाचार थे। कभी-कभी मै उनके साथ शाम को घूमने जाया करता था। एक वात हमेशा देखता कि सड़क पर चलते-चलते जव कोई मकान या पेड़ आता था, तो फौरन वे स्वयं कहते: "भाई, यहाँ कुछ है न?" या मुझसे पूछते थे: "यहाँ क्या है?" उन्हे वस्तुओ की विद्यमानता की अनुभूति होती थी। हम इसी सचेतता का विकास करना चाहते है।

इस मुद्दे को और स्पष्ट करने के लिए इसका एकदम उल्टा उदाहरण देता हूँ। प्रशिक्षण-टोली की एक कक्षा में एक दिन हरसिंगार* के फूलों की वात उठी। शरद् ऋतु थी। एक व्यक्ति उठे और वोले कि वह हरसिंगार के फूल और पेड़ को भलीभाँति पहचानता है, क्योंकि उसके प्रदेश मे वह पेड प्रचुर मात्रा में होता है। पूछने पर उन्होंने कहा : "दीखता है, यहाँ तो यह पेड नही होता।" वह इस वात पर अड़ गये कि तालीमी-संघ के अहाते में तो हरसिंगार का एक भी पेड नही है, फूल की तो वात ही क्या। मैंने उनसे पूछा : "क्या आजकल आप रोज सुवह छात्रालय से आते-जाते समय रास्ते पर विछी हरसिंगार की एक इच मोटी सतह पर से चलकर नही आते ?" उनका वह विश्वास फिर भी कायम रहा। अगले दिन सुवह मैं स्वय उनके पास गया और आते समय रास्ते पर बिछी प्रकृति की इस सुन्दर छवि के सामने उन्हे खडा करके कहा : "क्या है यह फूल ?"

"ओहो ! कितना अन्धा हूँ मैं।" वे सचमुच हरसिंगार के फूल और पेड़ को अच्छी तरह पहचानते थे। अगर उनके हाथ मे एक फूल दे दिया जाता, तो फौरन पहचान लेते। फिर भी उन्हे उस चीज के वारे मे सचेतता ( अवेअरनेस ) नही थी।

दो विलकुल उल्टे उदाहरण दिये। एक मे तो आँख से न देखते हुए भी किसी वस्तु के अस्तित्व, उसकी विद्यमानता के वारे मे व्यक्ति को पूरा-पूरा भान है, सचेतता है। दूसरे मे वस्तु के वारे मे ज्ञान है, मानस मे उसका स्पष्ट प्रतिविम्व भी वना पडा है, फिर भी वह सचेतता नही है। इस सचेतता का सम्वन्ध प्रकृति के साथ एकात्मानुभूति से है। मेरे से वाहर किसी दूसरी वस्तु के अस्तित्व का भान होना यानी वाहर के प्रति सवेदना होना, यह अहंकार के निराकरण का पथ है। सुशिक्षित व्यक्ति का यह एक लक्षण है।

---

* हरसिंगार शरद् ऋतु का मुख्य फूल होता है। इसे शरद् का प्रतीक कहा जा सकता है।

## आँख की शिक्षा

दूसरी शक्ति, जो कला-शिक्षा के द्वारा विकसित होती है, वह आँख की शक्ति है। जिन्दगी के लिए आँख का होना लाजिमी है। हर कोई जानता है कि अगर आँख न हो, तो जीना कितना कठिन हो जाता है। आँख की शक्ति जितनी तेज़ होगी, व्यावहारिक जीवन मे उससे उतनी ही मदद मिलेगी।

आँख की शक्ति एक तो मनुष्य के दैहिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है और दूसरे उसके और मानस के समन्वय पर। जहाँ तक दैहिक स्वास्थ्य का सवाल है, वह शरीर-शास्त्र और आरोग्य-शास्त्र का विषय है। कभी-कभी कुछ कमियाँ जन्मजात या रोग के कारण होती है। जैसे वर्णान्धता (कलर-ब्लाइडनेस), जिसमें रगो को समझने मे गलतियां होती है और कोई-कोई रग दीखते भी नही। कभी-कभी तो ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जिन्हे सब कुछ काला-सफेद दीखता है, रंगीन नही या किसी-किसीको बीमारी के कारण चीजे धुंधली या टेढ़ी दीखती है। यह भी हो सकता है कि एक आँख अंधी हो, जिससे स्थान की गहराई का भान ही न रहे।*

आँख और मानस का समन्वय शिक्षा का विषय है। केवल बुद्धि

* क्या आँख एक ही रहने से काम चल जाता ? नही। क्योकि अगर एक ही आँख हो, तो एक वस्तु आगे है और एक पीछे—यह बिना स्पर्श के समझ में नहीं आयेगा। एक वस्तु की मोटाई का भान भी उससे न होगा। किसी वस्तु को एक आँख बन्द कर देखे और फिर इसी तरह दूसरी आँख से देखें, तो पता चलेगा कि दोनो आँखें अलग-अलग केवल लम्बाई और चौडाई को ही देखती है। लेकिन दोनो के देखने का तल (प्लेन) अलग-अलग होता है। दोनो के मिलन द्वारा उसमें गहराई का हिस्सा भी आ जाता है, जिसके कारण तृतीय विमा (थर्ड डायमेन्शन) भी आ जाती है।

जब कि एक आँख किसी कारण कुछ उम्र होने के बाद चली जाती है, तो आँख गहराई को देख नही सकती। किन्तु पुराने अभ्यास और मानसिक तर्कक्रिया के कारण उस कमी की पूर्ति हो जाती है।

के विकास से यह समन्वय नही सघ सकता। इसके लिए आँख और बुद्धि दोनो को किसी प्रवृत्ति मे साथ-साथ लगना होगा। आज खास तौर पर इस वात की हमारे देश मे हद से ज्यादा कमी है। वीसियो साल से केवल वौद्धिक प्रवृत्तियाँ ही शिक्षा का माध्यम रही, आँख की ट्रेनिंग के लिए कुछ भी नही किया गया। इसलिए हममें आँख और मानस के समन्वय का भयानक अभाव है। मनोवैज्ञानिक कहते है कि वैज्ञानिक चिन्तन के लिए भी इस समन्वय की वडी आवश्यकता है। क्या यही कारण है कि आम तौर पर आज अधिकतर लोगो का चिन्तन भी अवैज्ञानिक ही रह जाता है ? जो भी हो, हमने जो निरीक्षण सयानो के वर्ग मे किये है, उन्हें यहाँ पेश करते है। प्रशिक्षण-वर्गो की वात है। इस वात को समझाने के लिए अक्सर सारी कक्षा के सामने एक किताव जमीन पर रख देता हूँ और विद्यार्थियो से कहता हूँ कि जैसा उन्हे दीख रहा है, इस पुस्तक का वैसा चित्र वनाये। इनमे से ९० प्रतिशत लोग अपनी नोटवुक मे एक आयताकार वना देते है और वाकी कोशिश करते है, जैसा दीखता है वैसा वनाने की। एक-आध ही उनमे से ऐसा व्यक्ति होगा, जिसका स्केच रखी हुई किताव जैसा दीखता हो।

हर वस्तु के दो आकार होते है। एक तो उसका वह आकार, जो वास्तव मे होता है और जो वदलता नही। यानी अगर पुस्तक आयताकार है, तो उसका आकार कभी भी वदलेगा नही। यह उसका मूल आकार है। दूसरा आकार वह होता है, जो आँख को दीखता है। यह हमेशा वदलता रहता है और वस्तु को जिस कोण से, जिस आलोक-छाया की स्थिति मे देखा जाता है, उस पर निर्भर करता है। समतल स्थान पर रखी हुई पुस्तक एक वाजू से देखने पर आयताकार नही दीखेगी। उसका आकार कुछ-कुछ 'पेरेलेलोग्राम' जैसा दीखेगा। हर वस्तु के वारे मे यही वात लागू होती है।

जिन विद्यार्थियो ने पुस्तक का चित्र एक आयत वनाकर दिखाया था, उन्होने उसे जैसा वे जानते है, वैसा वनाया था, यानी पुस्तक का मूल आकार। जो जानकारी पुस्तक के आकार के वारे मे उन्हे थी, वही उन्होंने

बनाया। स्थिति-विशेष में वह पुस्तक कैसी दीखती है, यह ट्रेनिंग उनको नही थी। दरअसल अधिकतर लोग इस तरह देखना ही नहीं जानते।

किसी वस्तु को पाँच मिनट के लिए सामने रख दीजिये। फिर हटाकर उनसे कहिये कि याद से इसका चित्र जैसा दीखता था, वैसा बनाइये। ऐसी हालत मे तो और भी मुश्किल हो जायगी। कुछ इने-गिने लोग ही ऐसे होगे, जो इस प्रकार चित्र बना सकेगे। जिन्होने अपने स्कूल-युग में रुचि के साथ ड्राँइग की होगी, उनमे से कुछ शायद सफलतापूर्वक ठीक निरीक्षण करके चित्र बना सके।

यह तो केवल आकार की बात हुई। रग आदि के बारे में भी यही बात है। एक ही रंग की दो शेड मे फर्क समझना, किसी प्राकृतिक वस्तु के रंग का ठीक नाम बताना, यह सब कम ही लोग कर सकेगे। हमारा एक गुलाब का बगीचा है। उसमे लगभग पैंतालीस प्रकार के गुलाब है। जाड़े मे जब फूल का मौसम होता है, तो आश्रम में आनेवाले अनेक दर्शक ये फूल देखने भी आते है। उनमे से कइयों से इसके बारे में बातचीत भी होती है। यह बातचीत अक्सर इस प्रकार होती है: "कितने प्रकार के गुलाब है आपके बगीचे मे?" "पैंतालीस प्रकार के।" "पैंतालीस? लेकिन दीखते तो पाँच या छह प्रकार के ही है। लाल, गुलाबी, सफेद, पीला…" लाल मे पाँच-सात प्रकार के शेड है, पीले मे भी, यह सब उन्हे दीखता ही नही। यहाँ तक कि उनमे से बहुत से लोगों को यह बात दिखा देने पर भी समझ में नही आती। इसके लिए भी आँख को ट्रेनिंग देनी पड़ती है।

आलोक और छाया की क्रीडा प्रकृति को हर क्षण कितना बदलती रहती है, उसमें रूप का कितना भंडार पड़ा है, उससे आज हम वचित रह जाते है। कला-शिक्षा के द्वारा प्रकृति की इस सम्पदा का द्वार खुल जाता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने कहा है: "…यह है आर्ट। दृष्टि का भडार पूर्ण कर देता है। जो देखा नही, उसे जब देखते है, अवाक् हो रह जाते है। इसीलिए तो है प्रत्यक्ष देखने मे इतना आनन्द! यही देखना है छबि (चित्र) का देखना।"

देखना तभी सम्पूर्ण होता है, जब कि वह दोनों तरह से हो—

आँख से देखना और मन से देखना। इस वात को आचार्य अवनीन्द्रनाथ ने वडी सुन्दर भाषा मे व्यक्त किया है : "मनुष्य के मन मे जो देखता हूँ, वह मानवीय भाव है और आँख से देखता हूँ, प्रकृति का भाव। इन दोनो को मिला करके ही सृष्टि की परिपूर्णता है। दोनो ही होने चाहिए। मन का देखना भी चाहिए और आँख का देखना भी।"[1]

### लावण्य-निर्माण

लावण्य-निर्माण शिक्षा और खास तौर पर कला-शिक्षा का एक मुख्य ध्येय है। इस वात पर ससार के सभी शिक्षा-शास्त्री जोर देते आये है और दे रहे है। अनेक प्राचीन सस्कृतियों के अध्ययन से भी पता चलता है कि व्यक्ति को सुसस्कृत वनाने के लिए शिक्षा की जो योजना वनती थी, उसमे कलाओ को महत्त्वपूर्ण स्थान था और व्यक्ति को एक-न-एक कला मे अच्छी दक्षता प्राप्त करना आवश्यक होता था।

भारत की पुराण-गाथाओ, ग्रंथो और भारतीय अन्य शास्त्रो से पता चलता है कि शिक्षा मे कलाएँ प्रमुख स्थान रखती थी। प्राचीन और मध्यकाल मे एक नागरिक या सुसस्कृत व्यक्ति वह समझा जाता था, जो 'चतु.षष्ठिकला-प्रवीण' हो। "प्राचीन भारत का यह रईस ' वह स्वय इन कलाओ का जानकार होता था। नागरिको को खास-खास कलाओ का अभ्यास कराया जाता था। केवल शारीरिक अनुरजन ही कला का विषय न था, मानसिक और वौद्धिक विकास का ध्यान पूरी मात्रा मे रखा जाता था। उन दिनों किसी पुरुष को राजसभा और सहृदय-गोष्ठियो मे प्रवेश पा सकने के लिए कलाओ की जानकारी आवश्यक होती थी, उसे अपने को गोष्ठी-विहार का अधिकार सिद्ध करना होता था।"[2]

जापान मे हर शिक्षित व्यक्ति को, स्त्रियो को तो अवश्य ही, फूलदान मे सुन्दर ढग के फूल सजाना आता है। जापान मे यह कला समाज मे ऊँचा स्थान रखती है और इसे काफी मेहनत करके सीखना पडता है। वहाँ

---

[1] विश्वभारती पत्रिका—वंगला, सर्वप्रथम अक।

[2] द्विवेदी, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—पृष्ठ ११।

की सब पब्लिक परीक्षाओं मे फूल सजाने की परीक्षा भी होती थी और उसमे उत्तीर्ण होना ही पडता था। चीन की सभ्यता के अनुसार किसी राजा या खास ऊँची पदवीवाले व्यक्ति के गुणों का बखान करते समय किसी-न-किसी कला का पहले नाम आता ही है। या तो वह बड़ा कवि होगा या चित्रकार या केलीग्राफिस्ट या गायक आदि।

यूनान के दार्शनिक प्लेटो से सभी परिचित है। उनका लिखा हुआ 'रिपब्लिक' उनके आदर्श समाज का चित्र है। प्लेटो का दर्शन ही था कि शिक्षा मे वह शक्ति होनी चाहिए, जिससे व्यक्ति मे छद और सामजस्य का निर्माण हो। उसके अनुसार "··हमारे नागरिक का विकास पुरुप की अवस्था को पहुँचने के लिए केवल सुन्दर और लावण्यमय वातावरण मे हो। उसमे से वदसूरती और दुर्गुणों को निकाल दिया गया हो। ····अगर हमारे युवकों को जीवन मे कुछ काम करना है, तो क्या उन्हे इस लावण्य-सामजस्य को अपना शाश्वत उद्देश्य नही वनाना चाहिए ? हाँ, जरूर| वनाना चाहिए। कोई शक नही कि चित्रकार की कला और दूसरी सभी सृजनात्मक और रचनात्मक कलाएँ इनसे भरी पड़ी है— वुनाई, कढाई, वास्तुकला और हर तरह का उत्पादन का काम।" संगीत के वारे मे "और, इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि संगीत-शिक्षा दूसरे माध्यमों से कही अधिक शक्तिशाली माध्यम है, क्योकि छद और सामंजस्य का प्रवेश हृदय ( आत्मा ) के गहरे स्तर में होता है और वे उसके साथ जोर से वँध जाते है। उनसे लावण्य का निर्माण होता है। वे जिसे उचित शिक्षा मिली हो, उसे लावण्यमय वनाते है; और जिसे यह अन्तरजीवन की शिक्षा मिली है, वह होशियारी के साथ कला और प्रकृति की कमियो और गलतियों को समझ लेगा। वह सच्ची सुरुचि के साथ जव कि सत्य की तारीफ करेगा, उससे आनन्द-लाभ करेगा और उसे अपने हृदय मे अपना लेगा, वुरे से घृणा करेगा, उसकी निन्दा करेगा। यौवन-काल मे, जव कि उसे उसके कारण भी नही मालूम होते, उसका इस तरह विकास होगा····।"*

---

* प्लेटो, रिपब्लिक ( जौवेट अनुवाद ), मॉडर्न लायब्रेरी—पृष्ठ १०४, १०५।

व्यक्ति के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे कला-शिक्षा के द्वारा लावण्य-निर्माण होता है, यह एक शास्त्र के तौर पर प्लेटो ने प्रस्तुत किया। उन्होने जव छन्द और सामजस्य का जिक्र किया, तो स्पष्ट ही है कि उनका मतलव तथाकथित कलाओ के छन्द और सामजस्य का नही, बल्कि सम्पूर्ण जीवन के सामजस्य और छन्द का है। भले-बुरे, गुणो-दुर्गुणो आदि को समझने के लिए जिस वोध की आवश्यकता है, कला-शिक्षा वह बोध प्रदान करा सकती है। यह विचार ढाई हजार साल पुराने दार्शनिक प्लेटो का ही नही, वल्कि संसार की सभी सभ्यताओ का है।

यह लावण्य कलाकार सीखता कहाँ से है ? प्रकृति मे इसका दर्शन होता है। इसलिए पहले प्रकृति मे लावण्य और लालित्य की खोज-वीन करनी चाहिए।

हम यह मानते है कि सौन्दर्य-निर्माण की कोशिश जीवन के ध्येयो में से एक है। प्रकृति की हर कोशिश 'जीवन' मे सन्तुलन बनाने—लावण्य-निर्माण करने की है। 'प्रकृति' शब्द का मतलब व्यापक अर्थ मे लिया गया है। मनुष्य भी प्रकृति का अग है। मनुष्य का कुछ व्यवहार तो जान-बूझकर सचेत मानस द्वारा होता है और कुछ अनजाने मे सहजात वृत्ति द्वारा। मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ उसी तरह काम करती है, जैसे प्रकृति की दूसरी सजीव वस्तुओ मे उनका नैसर्गिक स्वभाव काम करता है। जहाँ तक लावण्य का प्रश्न है, प्रकृति का प्रयत्न हर समय और हर वस्तु मे उसे निर्माण करने का होता है। जैसे : एक पेड, जिसकी एक तरफ की डाल अगर किसी कारण टूट गयी हो और जो उसके कारण अपना सन्तुलन खो वैठा हो, यही कोशिश करता है कि सन्तुलन फिर से स्थापित किया जाय। वह जिधर की डाल टूटी है, उधर ही अपनी नयी शाखाएँ फेकता है। अक्सर देखा यह गया है कि अगर दूसरा 'एक्सीडेण्ट' न हो, तो पेड़ का सन्तुलन कुछ वर्षो मे फिर से कायम हो जाता है।

पहले-पहल चलने का प्रयत्न करनेवाले शिशु को देखकर मामूली व्यक्ति को लगता है कि वह लड़खडाकर चल रहा है। किन्तु क्या वह

उस नृत्यकार की तरह नही है, जो वारीक रस्सी पर खड़ा होकर नाचने ( रोप डान्स ) की कोशिश कर रहा हो और अपना सन्तुलन सँभालने के लिए इधर-उधर हाथ फैला रहा हो। वह शिशु भी अपने चलने मे अपनी उस नैसर्गिक प्रवृत्ति का दर्शन कराता है, जिसका प्रयत्न हर क्षण सन्तुलन लाने मे लगता है। इन स्पन्दनो के कारण जो 'पैटर्न' उसके शरीर में वनते है, वे वैसे ही होते है, जैसे कि एक नृत्यकार के शरीर मे नृत्य के समय होते है। ये सव एक ही सिद्धान्त के उदाहरण हैं। वह सिद्धान्त यह है कि प्रकृति की हर चीज सन्तुलन और सामंजस्य के साथ विकास ( ग्रो ) करती है। अगर यह सन्तुलन किसी दुर्घटना के कारण टूट जाय, तो प्रकृति का पूरा प्रयत्न इस सन्तुलन को फिर से सुधार लेने मे लगता है।

प्रकृति की एक और कोशिश, ऊपर कही कोशिश के साथ-साथ चलती रहती है। उसके पीछे ध्येय मितव्ययिता ( उपयोगिता ) होती है। प्रकृति मे हर वस्तु के निर्माण मे यह प्रयत्न रहता है कि कम-से-कम व्यय हो, यानी जितना जरूरी है, उससे अधिक न हो। किसी फल को—सन्तरे को ही ले। वनस्पति-शास्त्र के विशेषज्ञ से पता चलेगा कि उसके अन्दर जो तत्त्व आदि लगे है, वे सव उसके निर्माण के लिए आवश्यक हैं। उसके अन्दर जो स्थान हवा के लिए रहता है, वह भी कहते है कि विलकुल गणित के हिसाव से ठीक परिमाण मे होता है। उसमें कोई भी चीज ऐसी नही होती या इस प्रमाण में नही होती कि वैज्ञानिक यह कह सके कि यह फिजूल व्यय किया गया है।

इन दोनों प्रयत्नों—सौन्दर्य-निर्माण और मितव्ययिता ( उपयोगिता ) मे इतना समन्वय है कि एक अवस्था मे जाकर इन्हें 'एक ही ध्येय के दो नाम' कहा जा सकता है। जो शक्ति मितव्ययिता मे लगती है, वही अन्त मे सौन्दर्य के रूप मे परिणत हो जाती है और जो सौन्दर्य-निर्माण मे खर्च होती है, वह उस वस्तु को सम्पूर्ण रूप देती है।

हमे ऐसा लगता है कि प्रकृति मे कुछ ऐसे सिद्धान्त, नियम आदि होगे, जो ऊपर कहे दोनो प्रयत्नों के आधार होते होगे। उसका भी कुछ

गणित होता होगा। अनेक कला-विशेषज्ञ यह मानते है कि 'पैटर्न-मेकिंग' के पीछे एक गणित होता है। उस गणित को सीख लिया और उसका उपयोग सृजन के काम मे ले लिया, तो वस्तु सुन्दर बन जाती है। इस विचार की पुष्टि कई बातो से होती है। प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के ऊपर कुछ शास्त्र है। उनमे मूर्तियो के निश्चित परिमाण आदि का जिक्र मिलता है। मूर्ति के हर अवयव का एक-दूसरे के साथ क्या परिमाण होना चाहिए, यह बिलकुल निश्चित रहता था। पुरानी मूर्तियो का इस प्रकार प्रत्यक्ष अध्ययन किया गया है। उनमे कुछ सर्वसामान्य 'परिमाण' पाये जाते है। उन्हे देखकर लगता है कि वे तो गणित के सिद्धान्तो जैसे ही बुनियादी सिद्धान्त है। यह बात वास्तुकला मे और भी अधिक स्पष्ट है। मकान की लम्बाई-चौड़ाई का परिमाण, उसकी खिड़कियाँ, दरवाजो आदि का बिलकुल गणित के हिसाब से निश्चित परिमाण होना चाहिए, ऐसा पुराने शास्त्र मानते आये है। यहाँ तक कि उनमे धार्मिक भावना तक जोड दी गयी है। सगीत का सप्तक तो गणित की इस बात को सिद्ध करनेवाला एक सुन्दर नमूना ही है।

इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धान्त सौंदर्य-बोध और मितव्ययिता या उपयोगिता ( एसथेटिक और फक्शनल ) के पीछे सामान्य तौर पर अन्तर्निहित है। अगर सच्ची मितव्ययिता यानी उपयोगिता ( इसका अर्थ कम खर्चीलापन नही लिया जाय, बल्कि 'फक्शनल' लिया जाय, यानी वस्तु का काम की दृष्टि से उचित उपयोग ) की कोशिश होगी, तो सौदर्य-निर्माण भी होगा। और अगर सौन्दर्य-निर्माण की कोशिश होगी, तो मितव्ययिता ( उपयोगिता ) भी सधेगी। यह बात आसान नही है, क्योकि आज हमारे विचारो मे सौन्दर्य और उपयोगिता इतनी अलग-अलग बाते बनकर बैठ गयी है कि ऊपर कही गयी बात मन मे बैठने मे कुछ समय लगेगा।

इस बात को आधुनिकतम डिजाइनर्स मानने लगे है और यह तभी समझ मे आ जाता है, जब कि कुछ आधुनिक उपयोगी वस्तुओ को देखा जाय। इसी प्रश्न पर हर्बर्ट रीड लिखते है : "कहा जा सकता है कि

कुछ उपयोगी वस्तुएँ कल्पना मे भी कभी सुन्दर नही वनायी जा सकती। मै मानता हूँ कि इसकी सम्भावना कभी-कभी मुश्किल से होती है। पर कुछ निरीक्षण के वाद देख सकेगे कि अनेक वस्तुएँ, जिनसे ऐसी आशा भी नही होती, एक प्रकार का ऐब्सट्रेक्ट ( भावात्मक ) सौंदर्य रख सकती है। मोटरकार इसका एक स्पष्ट नमूना है, पर उससे भी अच्छा नमूना रेडियो-सेट का है। पिछले पाँच-दस वर्षो मे सुन्दरता की ओर उसका विकास कमाल का हुआ है। रॉजर फ़्राइ ( यूरोप के सुप्रसिद्ध कला-विशेषज्ञ ) शंका करते थे कि क्या कभी टाइपराइटर भी सुन्दर हो सकेगा, किन्तु पिछले वर्षो में उसका नमूना कही अच्छा वनने लगा है, जो पहले से वे-मिलान है। हालाँकि अभी भी कोई टाइपराइटर को एक कलाकृति नही मानेगा, पर उसका विकास अवश्य ही उसी ओर हो रहा है।"*

इस मुद्दे पर अधिक चर्चा करना हमारा विषय नही है, परन्तु इससे यह वताने का प्रयत्न किया कि सौन्दर्य-निर्माण के पीछे उपयोगिता का प्रश्न जुड़ा हुआ है, और दोनों की सतह मे ऐसे कुछ नियम अन्तर्निहित है, जो गणित के सिद्धान्तों की तरह होते है और जिन्हे सीखा जा सकता है।

कलाकार दो प्रकार के होते है : एक तो वे, जो केवल आन्तरिक वोध ( इन्ट्यूशन ) के द्वारा सृजन करते है। कलाकार का दूसरा प्रकार वह होता है, जिसकी सृजनात्मकता वुद्धिप्रधान होती है। आन्तरिक वोधवाली शक्ति सिखायी नही जा सकती, पर उस सृजनात्मकता का थोड़ा-वहुत ज्ञान आम व्यक्ति को जरूर सिखाया जा सकता है, जिसका आधार वौद्धिक होता है। ऊपर कहे गये सिद्धान्तों को वुद्धि से खोजना, समझना और उपयोग करना शिक्षा का विषय है।

इस प्रकार मनुष्य जो प्रकृति से लेकर आता है, उसके द्वारा तो लावण्य-निर्माण करने की शक्ति रखता ही है, पर सस्कारों के द्वारा, शिक्षा के द्वारा जान-वूझकर एक सम्पूर्ण लावण्यशील व्यक्ति वनने की शक्ति भी रखता है। इतनी चर्चा के वाद भी कुछ लोग यह कह सकते

---

* हर्वर्ट रीड, आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री—पृष्ठ ५२।

है कि कलात्मकता तो जन्मजात ही आती है, उसे सिखाया नही जा सकता । हाँ, काफी हद तक यह वात ठीक हो सकती है; मौलिक रचना करनेवाले कलाकार का जहाँ तक प्रश्न है, यह वात ठीक है । पर जहाँ तक हमने आम व्यक्ति के इसमे प्रवेश करने की आशा रखी है, वहाँ तक यह कठिन नही होनी चाहिए । क्या यह सच नही कि पुराने जमाने मे कलाकार, शिल्पकार सभी वश की परम्परा द्वारा वनते थे ? पिता के वाद वह काम पुत्र करे, यह सावारण मान्यता थी । तो क्या हर पुत्र जन्मजात कलाकार होता था ? यह सच है कि हर कलाकार का पुत्र मौलिक रचनाएँ करनेवाला कलाकार नही हो सकता था, पर एक स्तर तक तो उसे अपने 'धन्धे' मे विशेषज्ञ होना ही पड़ता था । इसी प्रकार आम मनुष्य की शिक्षा मे कला-शिक्षा इसलिए जरूरी है कि वह कला-वोघ का लाभ करे और साथ ही अपना व्यक्तित्व लावण्यमय वना सके ।

इस तरह की वुनियाद, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, वचपन से ही डालनी चाहिए, क्योकि अनेक ऐसी वाते होती है, जो एक खास उम्र में ही करनी ठीक होती है । नृत्यकार का शरीर तभी सुन्दर और छन्दमय वन सकता है, जव कि उसे वचपन से ही उसकी शिक्षा मिली हो । वड़े होकर शरीर को वदलना मुश्किल होता है । वचपन मे अगर शरीर की ठीक ढलाई हो, तो वडी उम्र मे भी वह ठीक रहता है । जो गला छुटपन से ही सघ जाता है, उसमे स्वर सदा के लिए समा जाता है । संगीतज्ञ के गले का लावण्य कम उम्र से ही निर्मित होना शुरू हो जाता है । कला-वोघ जिस गहराई में वचपन से ही अभ्यास होने से प्रवेश करता है, वह वडे होकर करना विरलो के लिए ही सम्भव होता है । ये जो कला-वोघ ( सेन्सिविलिटी ) से सम्वन्ध रखनेवाले विपय है यानी सृजनात्मक और निर्माणात्मक विपय, उनके द्वारा जिस विकास की अपेक्षा है, वह वाल्यावस्था मे ही होना शुरू हो जाता है । वचपन मे अगर उसमे प्रवेश नही पा सके, तो वड़े होकर यह असम्भव हो जाता है । वडा होने के वाद भी दरवाजा केवल उन्ही लोगो के लिए खुलता है, जिनमे कुछ प्रतिभा होती है ।

चित्रकला और मूर्तिकला या अन्य शिल्पो की शिक्षा के द्वारा जीवन

की जो गुत्थियाँ सुलझती है, उनका सबसे महत्त्वपूर्ण समय बाल्यावस्था होता है। वही विकास का काल होता है। उस काल मे आनन्द का और तृप्ति का विशुद्ध अनुभव हो, तो विकास स्वस्थ होता है। कला-शिक्षा इसी स्वच्छ लावण्यमय विकास का रास्ता है।

इस अध्याय मे कला-शिक्षा क्यो, इस प्रश्न पर चर्चा की। कला-शिक्षा के अन्य पहलू भी हो सकते है, पर जिनकी हमने यहाँ चर्चा की, वे जगत् के आज के संदर्भ मे विशेष महत्त्व रखते है। समाज मे हर तरह के सांस्कृतिक दैन्य का दर्शन होता है। मन के तनाव और दबाव आदि के कारण यह हालत है या बोध की कमी के कारण, सच्ची दृष्टि के अभाव के कारण यह दुर्दशा है, इसका उत्तर देने की आवश्यकता नही। हाँ, यह जरूर है कि मनुष्य शान्त और आनन्दित तभी रहता है, जब कि उसकी शारीरिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती रहे। कला-शिक्षा जिस सत्यदृष्टि का निर्माण करती है, उसके द्वारा हर तरह की आवश्यकताओ की पूर्ति होने मे मदद मिलती है। आखिर तो आनन्द-लाभ ही जीवन का उद्देश्य है। नन्दबाबू की पुस्तक 'शिल्पकथा' का आखिरी पैरा है: "कुणाल-जातक मे कामलोक की कथा आती है·· उससे परे रूपलोक, उससे भी परे अरूपलोक। मेरा कहना है कि उससे भी परे आनन्दलोक है। कामलोक आसक्ति है, इसीलिए अघापन है। रूपलोक में पहुँचने पर जीवन मे अखिल जीवन के कुछ स्पन्दन का अनुभव हुआ। आनन्दलोक में रस है। शास्त्रो मे कहा गया है, रसो वै स.।"



दूसरा अध्याय

# बच्चों की नजर से

"बालक की कलाकृति की सबसे सुन्दर चीज उसकी गलतियाँ हैं। ... और जितना इन गलतियों को शिक्षक सुधारता जायगा, उतनी ही बेजान, मन्द और व्यक्तित्वहीन वह कृति बन जायगी।"

—फ्रान्सिसिजेक

अभी तक सब कुछ सयानो की नजर से देखा। शिक्षक की दृष्टि कैसी होनी चाहिए, इसी बात पर चर्चा की। लेकिन जिसे शिक्षा देनी है, वह सयाना नही है। इसीलिए उसकी दृष्टि सयानो जैसी नही है।

जितना सोचकर या काट-छाँटकर सयानो की नजर तैयार होती है, बच्चो की उस तरह नही होती। वह इस काम का नतीजा 'यह होगा' या 'इसके ज़रिये ऐसे सस्कार पड़ेंगे', यह भी नही देखता। बच्चा तो हर समय नये-नये अनुभवो की खोज मे रहता है। हर चीज को परखना चाहता है। हर चीज के साथ परिचय करना चाहता है। वह जिस चीज से परिचय करता है, उसमे आनन्द ढूंढता है और अगर उसे उस चीज या काम मे आनन्द मिल जाता है, तो उसे दोबारा करता है और नये अनुभव पाता है। बच्चा अपने चारो तरफ की उन-उन चीजो की तरफ तेज निगाह से देखता है, जिनको सयाने नजर उठाकर भी नही देखते, बल्कि जिनके बारे मे सयानो को सचेतता भी नही होती। असल मे बात यह है कि बच्चे की दुनिया एक तरह की है और बडे की दूसरी तरह की। दोनो ही अपनी-अपनी दुनिया मे रहते है। दोनों के देखने के तरीके और देखने के विषय भी अलग-अलग होते है। मेरा कहने का मतलब यह नही कि

---

लीनो प्रिण्ट ( ३ )—'बाजार से वापस', लडका, उम्र १३-४।

बच्चा जिस चीज को देखता है, बड़ा उसे नही देखता। चीजे दोनों की एक ही हैं। वही लालटेन बड़ा देखता है, वही बच्चा। लेकिन बड़ा उसको किसी और दृष्टि से देखता है, छोटा किसी और से। उदाहरण के लिए बड़ा जहाँ यह देखता है कि लालटेन की रोशनी साफ है या नही, वहाँ बच्चा शायद उसके ऊपर चलनेवाले एक कीडे की तरफ एकटक निगाह से देखता रहता है। या शायद लालटेन की चिमनी के गंदे होने के कारण उस पर जो कुछ दाग हो गये हो, उन्हीको देखकर आनन्द लेता है। अगर हठात् लालटेन बुझ जाय, तो बच्चे की खुशी उस लालटेन के बुझने के अनुभव को पाने मे होती है। वह 'हो! हो!' कर आनन्दित हो उठता है, जब कि सयानों को लालटेन के बुझने से गुस्से का अनुभव होता है। अर्थ यह है कि बच्चे के लिए हर पलक नये अनुभव का समय है।

एक और बात है। जिस तरह बच्चे की दुनिया सयाने की दुनिया से अलग है, उसी तरह अच्छे और बुरे, सुन्दर या असुन्दर का नाप भी सयाने का बच्चे के जैसा नही होता। जिस चीज को देखने मे बडो को घृणा होती है, बच्चे को उसीमे मज़ा आ सकता है। जैसे कि जब एक बच्चा बारिश के कीचड़ मे खेल रहा हो या किसी 'मैली' चीज मे हाथ सानकर मज़ा ले रहा हो या एक केंचुए को उँगली से इधर-उधर कर रहा हो, उस समय कोई सयाना उधर से गुजरता हो, तो अक्सर ही वह उस बच्चे को यह कहकर डाँट देता है कि यह क्या गन्दा काम कर रहा है? दोनों की दुनिया और दोनों की नजर अलग-अलग है।

बच्चे के लिए ऐसे विचार, कि कला की आध्यात्मिक बाजू ऐसी हो या उसके आकार के पहलू की तरफ उसकी ऐसी दृष्टि हो, आदि बिलकुल कीमत नहीं रखते। वह तो यह देखता है कि क्या इसमें मुझे आनन्द मिलेगा? अगर उसे आनन्द मिलता है, तो वह उसमे रम जाता है।

अपनी इस चर्चा को अभी हम चित्रकला और ड्राइंग तक ही सीमित रखेंगे। हमारा वही विषय है। कला में बच्चा आनन्द लेता है, यह तो उसी समय पता चल जाता है, जब कि उसके सामने रंग और कागज़

रख दे और कहे कि लो, यह इस्तेमाल करो। शायद ही कोई वच्चा ऐसा होगा, जो इस मौके को चूकना पसन्द करेगा। ( आगे चलकर चर्चा करेंगे कि कुछ वच्चे पहले रंग और कागज पर हाथ भी लगाने की हिम्मत क्यो नही करते ? औसत वच्चा रग और कागज देखते ही खुश हो जाता है। कुछ विशेष अपवाद तो छोडने ही पडे है। )

वच्चे को कीचड मे खेलने से जो 'ठण्डा' और 'मुलायम' छूने का अनुभव होता है, उसीमे उसे आनन्द मिलता है। चित्र या ड्राइग वनाने मे भी,उसे कई तरह से आनन्द और सन्तोप मिलता है। किस-किस तरह उसे आनन्द मिलता है, यह देखे।

वढई का वच्चा जव कि वह हथौड़ा पकडना भी नही जानता, हथौड़े का क्या काम है, यह भी नही जानता, तभी से वह अपने पिता को काम करते देख उसके पास जाकर वैठ जाता है। धीरे-धीरे एक दिन हथौडा उठाकर उलटा-सीधा चलाने लगता है। वह अपने पिता की तरह करता है। इस शुरू की अवस्था मे भी क्या वह हथौड़े को किसी ध्येय यानी कुछ चीज वनाने के खयाल से चलाता है ? नही। वह हथौडा चलाने मे 'यानी काम के करने' मे जो आनन्द है, वह लेता है। हाथ-पैर चलाना, उँगलियो को चलाना, यही उसके लिए एक मजे की वात है।

कई किस्म के काम होते है। किस्म-किस्म के काम करने से मनुष्य की अलग-अलग भावनाओ, वृत्तियो और कर्मेन्द्रियो को सन्तोप मिलता है। वढई के औज़ार इस्तेमाल करने से एक किस्म का और पेन्सिल, कागज तथा रग इस्तेमाल करने से और एक किस्म का सतोप होता है। दोनो तरह के 'करने' मे ही आनन्द है। वच्चा किस्म-किस्म की प्रवृत्तियो को करने से आनन्द पाता है। चित्रकला और ड्राइग का काम करने का जो आनन्द है, वह वच्चे के लिए एक खास कीमत रखता है।

कोई काम पूरा करने के वाद और खास तौर पर निर्माणात्मक काम पूरा करने पर वनायी हुई चीज को देखकर एक आनन्द होता है। वच्चे के सामने रखा सामान—लकड़ी और वढई के औजार, गीली मिट्टी या रग, कूँची और कागज उसे एक तरह का निमत्रण देते है, आह्वान

देते है। वे उसे यह कहते हुए सुनायी देते है: "हमें लेकर क्या वना सकते हो ?" वच्चा फौरन लगकर जो कुछ वनाता है, उसे देखकर उसके मन मे और एक भावना जगती है। वह मन-ही-मन कहता है: "देखा, वना दिया!" चीज पूरी करने के वाद यह 'मै कुछ कर सकता हूँ' की भावना वच्चे के आनन्द का झरना है। उसे यह विश्वास कि 'वह निपुण है', आनन्द से भर देता है। इसका और साफ सवूत तव मिलता है, जव कि उनकी अपनी चित्र-प्रदर्शनी वच्चे ख़ुद देखने जाते है। उनका सवसे पहला काम होता है कि यह पता चलाये कि उनका अपना चित्र वहाँ है या नही। और जव मिल गया, तो उसीके सामने खड़े होकर उसे निहारते रहते है। ऐसे मौको पर वच्चो को उनके अपने चित्रो के वारे में इस तरह के वाक्य अक्सर कहते हुए सुना जाता है: "कितना अच्छा लगता है। ओ! हो! मेरा भी चित्र है, यह देखो।"

वच्चे के पास शव्दों की भाषा कम होती है। किन्तु उसके पास दूसरी ऐसी भाषा होती है, जो उसके मन में भरी कहानियो और अनुभवो को दूसरों को वता सके। एक वात देखेगे। वच्चे के ये अनुभव या उसकी ये कहानियाँ शव्दो से नही, वल्कि 'आकारो' से भरी होती है। जैसे अगर उसके अनुभव या कहानी मे एक पहाड आता है, तो उसके सामने पहाड़ शव्द नही, वल्कि पहाड़ वस्तु का आकार होता है। वह उसे दूसरों को वताते समय तभी पूरा संतोष मानेगा, जव कि जो मन मे है, वही प्रकट कर सके। मन में तो चीज का आकार है, चीज का नाम नही। नाम का स्थान गौण है। इसीलिए देखा गया है कि वच्चे जव चित्र के द्वारा 'वर्णन' करते है, तव लगता है, मानो पूरा-पूरा वता पा रहे है।

यह तो आदमी की वृत्ति ही है कि वह अपने अनुभवो को दूसरों को वताना चाहता है। वच्चो मे वह इच्छा और अधिक मिकदार मे होती है और उनका यह वर्णन करना आकारों द्वारा ही सवसे अधिक सफलतापूर्वक होता है। यही उनका एक वड़ा आनन्द का साधन है।

हमारे एक विद्यार्थी की ही वात थी। एक दिन उसने एक चित्र वनाया (चित्र-सख्या २५), जिसका विषय था: "वारिश हो रही है।

एक लड़का छाता लेकर सामने पेड़ से बँधे बैल को बारिश से हटाने के लिए जा रहा है। हठात् पैर फिसला और बेचारा गिर गया। हाथ का छाता भी उडकर दूर जा पड़ा।" यह था चित्र ! इस छोटे कलाकार का यह चित्र जब करीब-करीब पूरा हो रहा था, तो उसने उठाकर उसे दूर रखा और खुद पीछे दूर हटकर गर्दन इधर-उधर हिला, चित्र को देखने लगा। यह बात उसे मालूम नही थी कि मै उसे अच्छी तरह देख रहा था। वह चित्र के 'विषय' मे इतना लीन हो गया कि जो चित्र मे घट रहा था, उसे अपने मे भी अनुभव करने लगा। मैने देखा कि जिस तरह चित्र का लडका फिसलकर गिर रहा था, उसी तरह हठात् वह खुद भी बार-बार गिरने का अनुभव लेने लगा। यह नाटक करने मे उसे जो आनन्द मिल रहा था, वह सचमुच गहरा था। एक दूसरे विद्यार्थी ने एक मोटर का चित्र बनाया। मै देख रहा था कि बनाते-बनाते वह खुद बार-बार ड्राइवर के हैंडल पर हाथ चलाने का नाटक करता और मुँह से मोटर के भोपू की तरह आवाज निकालता था। यह सब देखकर यही महसूस होता है कि बच्चे चित्र बनाते समय स्वय वह वस्तु बन जाते है, जिसका वह चित्र बनाते रहते है। चित्र के 'विषय' की लहरे उनके अपने शरीर मे, मन में नाटक खेलने लगती है। यह पहलू बडे कलाकारो मे पाया जाता है। चीन की कला पर चर्चा करनेवाले इतिहासकार इस तरह की कई कहानियाँ बताते है, जिनमे ऐसे कलाकारो का जिक्र किया गया है, जो अगर घोड़े के चित्र बनाने मे उस्ताद हो, तो उनके अपने शरीर में घोडे के हिलने-डुलने की लहरे समा जाती है। वे खुद भी घोडे जैसा महसूस करते है। इस तरह की अनेक कहानियाँ कलाकारो के बारे मे पायी जाती है। यह चित्र के 'नाटक' का पहलू बच्चे को अत्यन्त आनन्द का अनुभव प्रदान करता है।

बच्चा बडा कल्पनाशील होता है। वह हर क्षण नयी-नयी कल्पनाओ मे बिताता है। एक मिट्टी का घर बनाता है, तो उसे किला और राजा का महल समझ लेता है। कुछ तिनके खडे करके कहता है कि देखो, राजा के सिपाही आ रहे है। और अगर एक राजा और दूसरे राजा के बीच युद्ध कराना चाहता है, तो दूसरी दिशा मे और कुछ तिनके खडे कर देता है।

कहता है, दो राजाओं की फौजें लड़ रही है। वालू में पैर घुसाकर सूराख वना देता है और वह उसका महल हो जाता है। कुछ कल्पना करके इन प्रवृत्तियों को शुरू करता है और इन्हें करते-करते उसे नयी-नयी कल्पनाएँ आती रहती हैं। ये सव साघन—मिट्टी, रेत, तिनके आदि—उसे कल्पना करने मे मदद करते हैं।

चित्र वनाते समय भी वच्चे के शुरू के वर्षो मे, जव कि उसके चित्र वडों की नजर में कीरमकाँटे ही होते है, वच्चा उन कीरमकाँटों मे पहाड़, नदी, नाले और आकाश तक को देख लेता है। वच्चों के इन चित्रों का विस्तार से जिक्र तो आगे चलकर करेंगे, किन्तु यहाँ यह वताना चाहते हैं कि इस तरह चित्र वनाना वच्चो की कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहन देता है। इस कल्पना-जगत् में इस तरह की कवि-कल्पना करने में वच्चो को आनन्द का लाभ होता है।

मनुष्य के मन में हर समय कुछ-न-कुछ भावनाएँ उठती रहती है। यह स्वाभाविक है कि ये भावनाएँ किसी-न-किसी तरह प्रकट होती रहे। इन्हे कोई-न-कोई निकास का रास्ता चाहिए ही। अगर आज का सूर्योदय देखकर कुछ विशेष भावनाएँ उठे, तो तुरन्त इच्छा होती है कि किसीको कहकर उन्हे व्यक्त करूँ। कवि हो, तो कविता करके अपनी भावनाओं को रूप देगा और चित्रकार चित्र वनाकर। इस तरह अनेक माध्यमों के द्वारा इन भावनाओ का प्रकटन किया जाता है। फिर अनेक नयी-नयी भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।

जीवन है ही लेना और देना। प्रकृति से लेना और उसे दे देना, यही जीवन है। एक घड़े को पानी से भरें, तो वह भर जायगा। पूरा भरने के वाद वह और नही 'भरेगा'। वह पानी लेने से इनकार कर देगा। अगर उसमें और भरना है, तो उसे पहले खाली करना पडेगा। यानी लेने के लिए देना पड़ेगा। और अगर नया पानी लेना नही हुआ, तो पहले का पानी धीरे-धीरे सड़ता रहेगा, उसमें दुर्गन्ध आ जायगी। इसी तरह आदमी को भी अपनी भावनाएँ निकालनी ही पडती हैं। केवल सिद्धयोगी ही अपनी वुद्धि के द्वारा, अपने आत्मवल के द्वारा इनका भीतर-ही-भीतर निराकरण

कर सकता है। सड़ने का मौका ही वहाँ नही होता। किन्तु आम तौर पर साधारण व्यक्ति ऐसा नही कर सकता। खास तौर पर वच्चे के लिए वह वात लागू हो ही नही सकती, क्योकि वह इन सव चीजो के वारे मे सज्ञान नही होता। वहाँ वुद्धि के द्वारा मन को दवा देने का सवाल ही नही खड़ा होता। उसे तो किसी-न-किसी तरह इन भावनाओ को रूप देकर वाहर निकालना ही पडेगा।

कला-प्रवृत्तियो द्वारा वच्चे की ये भावनाएँ सफलतापूर्वक प्रकट हो जाती है। अच्छी शिक्षा का यह काम है कि योजना ऐसी वने, जिससे वच्चे की ये भावनाएँ सुन्दर और स्वस्थ रूप लेकर वाहर निकले। इस वात को एक उदाहरण द्वारा पेश करे। अगर एक वच्चे को जरूरत से ज्यादा 'स्फूर्ति' हो और वह विना कारण इधर-उधर चीजो को पटकता-पीटता फिरता हो, तो शिक्षक का काम है कि वह वच्चे की इस पटकने-पीटने की भावना को कोई प्रवृत्ति देकर सुन्दर रूप दे। खूव ठोक-पीट करने का काम देने से भी उसकी यह वृत्ति काफी हद तक आत्म-प्रकटन पा सकेगी। वगीचा वनाने में खोदने का काम करना पडता है। मूर्ति वनाने मे खुदाई आदि, कुम्हार-काम मे खूव सारी मिट्टी लेकर पसीना तक निकाला जा सकता है। इस तरहके कई काम हो सकते है। चित्रकला द्वारा भी इसका अच्छा सुन्दर रूप वन सकता है। वह शायद वैसा ही चित्र वनायेगा, जिसमे खूव मार-काट, ठोक-पीट आदि का विषय हो। किस भावना को किस प्रवृत्ति द्वारा निकास मिलेगा, यह तो शिक्षक मौके पर ही ठीक कर सकता है। किन्तु यहाँ तो हम यही कहना चाहते है कि चित्रकला भी इन भावनाओ के निकास का सुन्दर और स्वस्थ माध्यम है। जव ये भावनाएँ निकल जाती है, तव आनन्द का जो अनुभव होता है, वह वडा महत्त्वपूर्ण है। वच्चे के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आनन्द का अनुभव, जिसे तृप्ति का वोध भी कह सकते है, वहुत जरूरी है। यहाँ तक अनुभव हुआ है कि इन प्रवृत्तियों के द्वारा वच्चे के दिल मे अगर कोई भय भी वैठा हुआ हो, तो वह भी प्रकट होकर दूर हो जाता है।

वच्चा कला-प्रवृत्तियो मे क्यो रुचि लेता है, इसके कुछ कारण ऊपर

बताये है। आखिर में एक प्रयोग का जिक्र करता हूँ। प्रयोग था कि बच्चे पुस्तके लिखे। विषय-वस्तु तैयार करना, उसे चित्रित करना, सुन्दर ढंग से लिखना, जिल्द बनाकर मुखपृष्ठ तैयार करना और उन्हे प्रकाशित करना—इतना काम था। वर्ग मे तेरह बच्चे थे, जिनकी उम्र औसत चौदह साल थी। शाला से अलग समय का जिक्र है। एक विद्यार्थी से चर्चा करते-करते पुस्तके लिखने पर बातचीत चल पड़ी। मैंने उसे बताने की कोशिश की कि पुस्तक लिखना कोई बड़ी बात नही है, अगर वह भी चाहे तो नयी पुस्तक तैयार कर सकता है। यह सुनकर उसे विचार बहुत पसन्द आया और उसने तय कर लिया कि वह जरूर एक पुस्तक लिखने की कोशिश करेगा। तीसरे दिन इस विद्यार्थी ने अपनी टोली के सामने इस विचार को रखा। सभी बच्चे बड़े जोश मे आ गये। इनमे से छह ने तय किया कि वे जरूर अपनी-अपनी पुस्तक लिखेंगे। सबने अपना-अपना विषय चुन लिया और अगले दिन से चित्र बनाना शुरू कर दिया। सोलह दिन के बाद छह पुस्तके तैयार हो गयी। लेख, कहानी कविता आदि बच्चे अक्सर लिखते है। कहानियों आदि को चित्रित करने के लिए भी किसी-किसी स्कूल मे प्रोत्साहन दिया जाता है। किन्तु ये बालक रामायण और महाभारत भी लिख डालेंगे, हमने भी कल्पना नही की थी। ये बच्चे खुद तो इसके बारे में सोच ही क्या सकते थे। इस काम का पूरा विवरण देने की यहाँ जरूरत नही है। इन पुस्तकों का स्तर कैसा था, यह भी कहने की आवश्यकता नही। मुझे तो लगता है कि आम तौर पर जैसा साहित्य बच्चों के लिए तैयार हो रहा है, उनमें से अच्छे-से-अच्छे स्तर के साहित्य के साथ इनकी तुलना हो सकती है।

यहाँ तो बच्चों के ऊपर इस प्रयोग का क्या असर हुआ, यह बताना मुख्य बात है। जिस दिन पुस्तके बनकर तैयार हुई, एक बच्चे ने मुझसे अत्यत भावुकतापूर्ण आवाज में कहा : "··· मुझे कल तक भी नही मालूम था कि मेरी पुस्तक इतनी अच्छी बनेगी।" दूसरे बच्चों ने खूब चिल्लाकर कहा : "हाँ, हाँ, सचमुच हमे तो विश्वास ही नही था कि पुस्तकें बनेगी या न जाने क्या होगा···।"

बच्चो को यह जो आत्म-दर्शन हुआ, यह मुख्य चीज है। बच्चा एक खजाना है। उसमें बहुत शक्ति भरी पड़ी है। वह ऐसे काम कर सकता है, जो हम सयाने होने के कारण सकोच से नही कर पाते। इन पुस्तको को लिखने के बाद इस आत्म-दर्शन से उन्हे पता चला कि उनके अन्दर कितनी शक्ति है। मैंने इस चीज को पहले भी अक्सर महसूस किया था। कला का हर काम व्यक्ति को आत्म-दर्शन कराता है। अपने अन्दर जो है, उसका बाहर प्रकट हो जाना ही आत्म-दर्शन की प्रक्रिया है। किन्तु ऊपर लिखे गये प्रयोग के अनुभव से मुझे इस पहलू की शक्ति का पता चला। इस तरह का आत्म-दर्शन बच्चे को आनन्द तो देता ही है, साथ ही साथ उसके सम्पूर्ण विकास का एक बहुत बड़ा जरिया भी बन जाता है।

बच्चे को यह महसूस हो जाना कि उसके अन्दर इतना सौंदर्य, इतनी शक्ति है, उसे और सुंदर और शक्तिशाली बनाता है।

कला-शिक्षा के द्वारा बच्चे का जो समग्र विकास होता है, उसमें आनन्द-प्राप्ति का पहलू अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अधिकतर बच्चे कला-प्रवृत्तियो मे इसीलिए रस लेते है कि उन्हे उनके द्वारा आनन्द मिलता है। इस अध्याय मे हमने कला-प्रवृत्तियो के द्वारा किस तरह आनन्द-लाभ होता है, उसका कुछ जिक्र किया। इस तरह और भी कुछ बातें हो सकती हैं। किन्तु अगर शिक्षक को यह विश्वास हो जाय कि बच्चे का आनन्द महसूस करना उसके आन्तरिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम होता है, तो शिक्षा मे कला-प्रवृत्तियो का उचित स्थान आसानी से बन जायगा।



तीसरा अध्याय

# बच्चों के चित्रों का विकास-क्रम

"·· बच्चा लकीरें इसलिए मारता है कि वह अपनी आन्तरिक दुनिया को किसी सहानुभूतिपूर्ण दर्शक को बता सके, अपने माँ-बाप के पास अपने भाव प्रकट करे, जिनसे वह समवेदना चाहता है।"

—हर्बर्ट रीड

प्रत्यक्ष काम शुरू करने के लिए उसूलों की बुनियाद तैयार करनी पड़ती है। अगर यह बुनियाद पक्की बन जाय, यानी अपने ध्येय को साफ-साफ समझ लिया जाय, तो आगे जाने का रास्ता और उसका असली स्वरूप तैयार करना आसान हो जाता है। जब तक ध्येय की सफाई नहीं होती, रास्ता स्पष्ट नहीं हो सकता। हम कैसा मनुष्य बनाना चाहते हैं, जब तक यह बात हमारे मन मे स्पष्ट नही होगी, तब तक शिक्षा का स्वरूप कैसा हो, यह कहना असम्भव है। यही बात कला-शिक्षा की भी है। कला-शिक्षा द्वारा व्यक्ति में और समाज मे हम किन गुणो का निर्माण करना चाहते है, उसके द्वारा जीवन में क्या-क्या विकास होता है, यह सब बिना सोचे-समझे कला-शिक्षा की पद्धति का निर्माण कैसे हो सकता है?

अभी तक की चर्चा मे हमने इन्ही सिद्धान्तों का चिन्तन किया। किन्तु इतने से ही काम नही चलता। पद्धति—टेकनिक—बनाने से भी पहले एक बात और जरूरी होती है और वह है: जो माध्यम है, उसका वस्तुगुण पहचानना। जब किसी वस्तु को लेकर काम करना है, तो

---

लीनो प्रिण्ट (४)—'बातचीत', लड़का, उम्र १२-३।

सबसे पहले यह जानना जरूरी होता है कि इस वस्तु के प्राकृतिक गुण क्या हैं। उदाहरण के लिए लकड़ी को लीजिये। हमने अपनी ज़रूरत भी साफ-साफ समझ ली कि एक पेटी की जरूरत है। इस ज़रूरत को सामने रखते हुए यह तो साफ है कि वक्से का आकार वगैरह किस तरह का होगा। वक्सा जिस चीज को लेकर वनाना है, वह है लकडी, यह भी निश्चित है। अव जरूरी यह हो जाता है कि लकड़ी का स्वगुण जानें। उसके रेशे कैसे हैं, काट-छाँट करनी है, तो किस तरह के औजार लगेंगे, लकडी, यह माध्यम सख्त है या मुलायम, तख्ते वनाकर वक्स ठीक वनेगा या खुदाई करके ? यह सव अच्छी तरह समझना पडेगा, तभी तो पेटी वनाना शुरू कर सकेंगे।

प्रस्तुत विषय वच्चो की कला का है। यहाँ जिसे तैयार करना है, वह वच्चा है। जव एक पेटी को वनाने के लिए इतनी पूर्व-तैयारी, पूर्व-चिन्तन की जरूरत पडती है, तो फिर वच्चे की शिक्षा के लिए उससे कितनी गुनी अधिक समझ-वूझकर तैयारी करनी चाहिए, यह स्पष्ट है। आम तौर पर एक गलती अक्सर होती है। वच्चे को विना समझे-वूझे हम उसकी शिक्षा की योजना वनाते है। इसलिए जो चाहते हैं, वह नही वन पाता। हमे वच्चो को लेकर काम करना है। उन्हे कला-शिक्षा देनी है। कला-शिक्षा के उसूल तैयार करने के वाद यह कोशिश करे कि इन उसूलो को सामने रखकर ही सिखाना है और वच्चे के स्वगुण को ध्यान मे न रखे, यानी वच्चे की प्रकृति और उसके स्वभाव का ध्यान न रखे, तो हम कही भी नही पहुँच सकेंगे। ऐसा करने से हम उन्हे आदमी न वनाकर तोता वनायेंगे। तोता भी वनेगा तो पिंजरे का, जगल का नही। चालू तालीम मे यही वडी भूल थी। शिक्षक वच्चो को वे वाते सिखाने की कोशिश करता था, जो वच्चे की दुनिया की नही, वल्कि वडो की दुनिया की थी। आम तौर पर आज तक यही चल रहा है।

यह भूल कला-शिक्षा की योजना वनाने के समय न हो, इसका खयाल रखना है। इसके लिए यह जरूरी है कि कला-शिक्षा की पद्धति

तैयार करने से पहले यह जान लें कि वच्चे के कला-गुण क्या है। हमें देख लेना है कि वच्चा जिस दुनिया मे रहता है, वह हमारी दुनिया से निराली है। और इसलिए उसके चित्र भी वडो के चित्रों से निराले होते है। यह समझना होगा कि वह किस अवस्था मे कैसा चित्र वनाता है।

इसके लिए वच्चों का और उनके कला-अनुभवो का वारीकी से अध्ययन करना होगा। हमारे देश मे यह काम नही के वरावर हुआ है। विदेशो मे तो इसे काफी वारीकी के साथ किया गया है। हमे वहाँ के अनेक विशेषज्ञो के अनुभव उपलव्व है। हमारे अपने काम मे यह अनुभव वहुत उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध हुए। साथ ही यह भी महसूस किया कि वच्चो के काम के नतीजे सव जगह करीव-करीव एक जैसे ही होते है। 'वच्चों की दुनिया' सव देशो मे एक जैसी ही पायी जाती है।

हमने अपने निरीक्षण मे यह देखने की कोशिश की कि वच्चा जिस समय से हाथ मे पेन्सिल पकड़ने के लायक हो जाता है, तव से लेकर अपने पूरे बचपन मे अगर पूरा स्वतत्र छोड दिया जाय, तो कैसे चित्र वनायेगा? यानी अगर एक, दो या तीन साल के वच्चे के हाथ मे कागज, रंग आदि पड जायँ, तो वह उससे किस तरह के चित्र वनायेगा? और अगर वह इसी तरह आगे भी वनाता रहे, तो कुछ दिनो वाद उसके चित्र कैसे वनेंगे? अर्थ यह है कि वच्चे को स्वतंत्र छोडकर हमेशा चित्र वनाते रहने देने का मौका दिया जाय, तो उसके चित्रो मे किस तरह का विकास होता रहेगा?

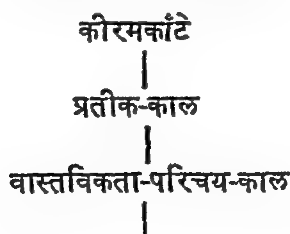
हमने देखा कि वच्चे के चित्रों में क्रमश. परिवर्तन होता रहता है। उसकी अवस्थाएँ वदलती रहती है। इसका कारण यह है कि वच्चा हर समय कुछ-न-कुछ नयी वात ग्रहण करता रहता है। उसके हर अनुभव उसके विकास की अवस्था को थोड़ा-थोड़ा वदलते रहते हैं।

कला आत्म-प्रकटन है। कलाकार अपनी कला के जरिये अपने अन्दर के अनुभव, विचार आदि को प्रकट करता है। जिस अनुभव या विचार को वह सोचता है कि दूसरो को भी देना चाहिए, वह अपनी

कला के जरिये देने का प्रयत्न करता है। कुछ अनुभव वगैरह ऐसे होते हैं, जो स्वयं प्रकट हो जाते हैं। केवल कलाकार के अनुभव या विचार ही प्रकटन नही पाते, वल्कि हर व्यक्ति अपने भीतरी व्यक्तित्व को किसी-न-किसी रूप मे वाहर प्रकट करता है। वच्चे के लिए यह भी स्वाभाविक है कि जो कुछ उसे अनुभव हो, वह उसे दूसरो को वताये। वच्चे का और भी एक गुण है। वह है—कुछ न छिपाने का गुण। वह जो कहना चाहता है, कह देता है। कम उम्र मे वच्चे को शव्दो की भाषा भी अविकसित रहती है। इसलिए कला ही उनके आत्म-प्रकटन का एक मुख्य साधन हो जाता है। उसके वनाये हुए चित्रो के द्वारा उसके भीतरी विकास का दर्शन होता और उसका स्वगुण हमे पता चल जाता है। इस निरीक्षण से पता चलेगा कि वच्चा किस प्रकार स्वाभाविक कला-विकास से गुजरता है।

पहले ही कहा गया है कि वच्चे के कला-विकास की अवस्थाएँ हर समय वदलती रहती है। फिलहाल इन अवस्थाओ को वारीकी से न लेकर हम मुख्य-मुख्य अवस्थाओ का जिक्र करेगे और वाद में इन अवस्थाओ की उप-अवस्थाओ के वारे मे वारीकी से चर्चा करेगे।

## वच्चों के चित्रों के विकासक्रम की मुख्य अवस्थाएँ




ये चार अवस्थाएँ है, जो वच्चे के कला-अनुभव मे आम तौर पर देखी जाती है। इनकी निश्चित उम्र कहना कठिन है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे और दूसरी अवस्था से तीसरी और चौथी अवस्था मे वच्चा कव प्रवेश करेगा, यह निश्चित तौर पर कहा नही जा सकता,

क्योंकि यह बच्चे के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। कोई बच्चा एक अवस्था मे किसी उम्र में आता है और दूसरा किसी दूसरी उम्र मे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक अवस्था मे रहने का समय सब बच्चो का एक जैसा ही होता है। हो सकता है कि एक बच्चा पहली अवस्था को कुछ हफ्तों मे ही पार कर ले। कभी-कभी देखा गया है कि कुछ बच्चे महीनों तक, यहाँ तक कि साल-साल तक पहली अवस्था मे ही पड़े रहते है। इस विपय पर वारीकी से चर्चा करने से पहले इन चारो अवस्थाओ को थोड़ा-थोड़ा स्पप्ट कर दें।

## कोरम-काँटे की अवस्था

वच्चा हाथ मे पेन्सिल पकड़ने लायक होने पर शुरु-शुरु मे कागज पर लकीरे घसीटता है। ये लकीरें किसी वस्तुविशेष का चित्र नही होती। केवल साधन से परिचय और शारीरिक हलचल का प्रकाश करना इस अवस्था मे होता है। वच्चा वड़ो की तरह हाथ चलाने की कोशिश करता है (चित्र-संख्या १ से ४)।

## प्रतीक-काल

हाथ चलाने की शुरुआत करने के वाद वह वाहर की दुनिया के आकारों से सम्वन्ध रखनेवाले चित्र वनाना शुरू कर देता है। वह कुछ खास तरह के आकारों के द्वारा अपने अनुभवो को प्रकट करता है। ये आकार वच्चे के अपने अनुभव के द्वारा निर्मित, दीखनेवाली वस्तुओं के आकार होते हैं। किन्तु वे वस्तु के वास्तविक आकार जैसे नही होते। इसमे वच्चा वस्तु को 'जैसा जानता है' या 'जैसा अनुभव करता है', वैसा चित्र वनाता है; वस्तु 'जैसी दीखती है', वैसा नही। वह अपने मन में चीजों के 'प्रतीक' वना लेता है। उदाहरणार्थ, आदमी के चेहरे के लिए एक गोला और उसके अन्दर तीन-चार छोटे-छोटे गोले (दो आँखें, एक नाक की लकीर या गोला और एक मुंह) यह उसका चेहरे का प्रतीक है। इसी तरह हर चीज के प्रतीक नये-नये अनुभवो के आधार पर उसके दिमाग मे वनते और वदलते रहते

हैं। इस अवस्था के चित्र प्रतीक-प्रधान होते हैं और वच्चा अभी तक अन्तर्मुखी होता है ( चित्र-सख्या ५ से २४ )।

## वास्तविकता-परिचय-काल ( रिअलिज़्म )

धीरे-धीरे ये प्रतीक भी वदलते है। एक चीज के वारे मे जो आज अनुभव है, कल और अधिक हो सकता है और वह होता ही है। किसी वस्तु का कुछ हिस्सा आज अनुभव मे आता है, तो कुछ और हिस्सा अगली वार नजर मे पडता है। इस अनुभव का असर उस चीज के प्रतीक पर पडता है और वह विकसित होता है। उसमें कुछ और जुड जाता या वदल जाता है। उदाहरण के लिए, जैसे आदमी के चेहरे का पहला प्रतीक, जिसका जिक्र अभी किया। उसमे आगे चलकर नाक भी आ जाता है और कुछ अनुभव के वाद कान, वाल वगैरह भी। यहाँ तक कि ये आकार, जो हालाँकि प्रतीक ही है, काफी हद तक वास्तविक आकार के जैसे दीखने गलते है। ज्यो-ज्यो ये प्रतीक वस्तु के जैसे दीखते है, वच्चा उन्हे प्रत्यक्ष वस्तु के आकार के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखने लगता है। इस प्रक्रिया के कारण वह वास्तविकता के वारे मे सज्ञान होता जाता है। इसमे उसके चाक्षुप अनुभव काम करते है और उसके चित्र वास्तविकता-प्रधान वनने लगते है। इसीलिए इस अवस्था को 'वास्तविकता-परिचय-अवस्था' कहा गया है ( चित्र-सख्या २५ से ३३ )।

इस परिवर्तन का दूसरा कारण भी हो सकता है। वच्चे का अभी तक का काल अन्तर्मुखी था। यानी तव तक वह अपने अन्दर ही वास करता है। वाहर की चीजो को भी इस समय अपना ही रूप और अर्थ देता है। यह अन्तर्मुख ( सब्जेक्टिव ) हालत वाद मे वदलती है और धीरे-धीरे वहिर्मुख होने लगती है। उसकी 'दुनिया' वदलने लगती है। वह वाहर की दुनिया के साथ अपना सम्वन्ध समझने लगता है। वह अपने-आपमे से निकलना शुरू करता है। ऐसी अवस्था मे उसका आत्म-प्रकटन भी वदलना चाहिए। वाह्य दुनिया की वास्तविकता का

सामना करने के अनुभव से उसकी नजर भी वास्तविकता-प्रधान हो जाती है। उसकी वजह से उसके चित्र भी वास्तविक होने शुरू हो जाते हैं। इसकी चर्चा विस्तार से आगे चलकर करेंगे।

व्यक्ति के विकास की सीढ़ी को तय करना सिर्फ उसके व्यक्तिगत गुणो पर ही निर्भर नही होता और न केवल उसके व्यक्तिगत सामर्थ्य से ही यह तय कर सकते है कि उसका विकास अमुक प्रकार से होगा। व्यक्ति के विकास की सीढी के वनाने मे एक वड़ा हाथ समाज के ढाँचे का भी होता है। समाज के विचारो और रुचि का असर व्यक्ति पर पड़ता है।

वच्चा हर काम को वडों की तरह करने की कोशिश करता है। वह कभी यह महसूस नही करता कि वह वड़ों जैसा नही है। जैसा वडों को करते देखता है, वैसे ही वह भी करना चाहता है। कला मे भी यही वात लागू होती है। एक उम्र तक तो वह वड़ो से इतना अलग तरह का होता है कि वह अपनेपन को काफी हद तक रख पाता है। लेकिन जव वड़ा होता जाता है, तो यह वात वदलती जाती है।

आज ही नही, वल्कि काफी काल से कला में समाज की साधारण रुचि का झुकाव वास्तविकता की तरफ ही है। कुछ कलाकारों को और विशेपज्ञों को छोड़कर अधिकतर व्यक्ति ऐसी ही तसवीरें या मूर्ति पसद करते है, जो वास्तविकता-प्रधान हों। घरो मे, पुस्तको मे और सव जगह अधिकतर चित्र वास्तविक ( रियलिस्टिक ) ही रहते है। वच्चे अगर किसीको चित्र वनाते हुए भी देखते है, तो वे भी अक्सर ऐसे ही चित्र वनानेवालो को देखते है, जो वास्तविक चित्र वनाते हो।

इसका असर यह होता है कि जव वच्चा कुछ सज्ञान होने लगता है, तो वह भी इसी प्रकार के चित्र वनाने की कोशिश करता है। उसके चित्र भी वास्तविक होने लगते है।

दूसरी वात यह है कि वच्चे की अपनी एक दुनिया अलग जरूर रहती है, लेकिन यह वात भूलने की नही है कि वह भी एक सामाजिक प्राणी है। वह कुछ अपने खुद के लिए करता है और कुछ अपने समाज के

लिए भी। उसका यह पहलू, जो कि उसे दूसरो के लिए कुछ कराता है, यानी वह काम, जो वह 'दिखानें' के लिए करता है, उसे बड़ो जैसा करने मे मदद करता है। इस कारण भी उसके चित्र एक उम्र आने पर वास्तविक होने लगते है।

ऐसी जगह, जहाँ कि समाज मे अभी भी लोककला की परम्परा चली आ रही है और सचमुच समाज मे उसका आदर होता है, वहाँ व्यक्ति का कला-विकास कैसा होता है, यह वात अध्ययन करने योग्य है। आदिवासी समाज में देखे। उनकी अपनी रुचि होती है। उनकी चित्रकला की परम्परा वास्तविक चित्रकला से कही अलग तरह की होती है। उसमे सयानो का काम भी इस प्रयत्न से दूर होता है कि चित्र मे वास्तविक आकारो का उपयोग हो। यही कारण है कि उस समाज मे वच्चो के चित्र भी किशोर-अवस्था मे आने पर भी वदलते नही। इसका अर्थ तो यह हुआ कि आज के समाज के वच्चो मे, जो किशोर-अवस्था मे वास्तविकता लाने का प्रयत्न होता है, वह स्वाभाविक नही है। वह तो समाज का असर है, क्योकि अगर यह स्वाभाविक होता, तो आदिवासी वच्चा भी किशोर-अवस्था मे आने पर इस वास्तविकता की तरफ झुकता, चाहे वाद मे समाज की रुचि और परम्परा के कारण फिर प्रतीक-प्रधान चित्र वनाना शुरू करता। किन्तु वहाँ, आदिवासी समाज मे, ऐसा नही होता और वच्चे के अपने चित्र आलकारिक व प्रतीक-प्रधान होते है। वच्चे के स्वाभाविक चित्र कैसे होते है, यह तव देखने को मिलता है, जव कि वच्चा चित्र 'अपने लिए' वना रहा हो, किसीको दिखाने के लिए नही। तव उसके अदर की चीज प्रकट होती है और वह उसके लिए 'कलात्मक लीला', ( एस्थेटिकल एक्टिविटी ) उनका निर्माणकारक खेल होता है, नकल की प्रवृत्ति नही।

## किशोर-अवस्था और उसके वाद

वच्चे की किशोर-अवस्था शिक्षा-शास्त्रियो और कला-शिक्षको के लिए अपने-आपमें एक अलग ही विषय है। यह उम्र एक समस्या की

उम्र कही गयी है। कुछ विशेषज्ञ तो इसे 'संकट का समय' मानते है। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि बच्चे के लिए यह अवस्था एक नया अनुभव होता है। दुनिया बदल जाती है। हो सकता है कि इस मानसिक परिवर्तन का कारण उसका अपना शारीरिक विकास भी हो। आज तक शरीर, जो एक तरीके से बढ़ रहा था, उसमे तबदीली होने लगती है। उसके लिए यह एक ऐसा अनुभव होता है, जो उसका मन अधिक-से-अधिक समय तक घेरे रहता है। समाज की परम्परा की वजह से वह इस समस्या को संकोच के कारण प्रकाशित नही करता। उसे इसका खुलासा नही मिलता। मन की अवस्था भी बदल जाती है। मन दूसरी बातों से हटकर इधर-उधर भटकने लगता है। एकाग्रता नही रहती। शारीरिक विकास तो एक ढग से हो जाता है, उसकी शारीरिक प्रवृत्तियाँ भी सयानो की-सी होने लगती है। लेकिन मानस इतना विकसित अभी तक नही हो पाता, जिससे वह अपने-आपको ठीक-ठीक समझ सके।

वास्तविकता-परिचय-काल में बच्चा चीजो के वास्तविक आकार के बारे मे सज्ञान होने लगता है और अब किशोर-अवस्था आने पर, जब कि उसके मन की अवस्था भी बदलने लगती है, उसके कला के काम पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण असर पडता है। वास्तविकता के बारे मे सचेत और सज्ञान होने के कारण उसे शीघ्र नैराश्य का अनुभव होता है। वह एक चित्र बनाने जाता है, किन्तु चित्र उतना वास्तविक नही बनता, जितना उसे 'दीखता है'। उसकी आँखें वस्तु मे और उसके चित्र मे कोई भी फर्क नही चाहती, लेकिन उसका हाथ हार मान जाता है। बच्चे की हिम्मत टूट जाती है और कला की तरफ से उसका दिल हटने लगता है।

अक्सर कला-शिक्षकों का कहना है कि यह अवस्था हर व्यक्ति के जीवन मे आती ही है ( कुछ ऐसे व्यक्तियों को छोडकर, जो जन्मजात कलाकार हों )। उनका कहना है कि यह एक विकास की प्राकृतिक सीढ़ी है। वे कहते है कि हरएक व्यक्ति को इस संकट-काल से गुजरना ही पडता है। इस अवस्था की चर्चा विस्तार से आगे चलकर करेंगे,

अभी तो केवल यह कहना चाहते है कि आज की हालत मे किशोर-अवस्था का यह सकट आयेगा ही। किन्तु शिक्षा का ढाँचा और उसके द्वारा समाज का सम्पूर्ण परिवर्तन जव तक नही होगा, तव तक केवल कला-शिक्षा ही नही, जीवन के सभी पहलू हमारे लिए समस्या वने रहेगे।

अभी तक वच्चो की चित्रकला के विकास की मुख्य चार अवस्थाओ का मोटे तौर पर जिक्र किया गया। अव प्रत्येक अवस्था और उसकी उप-अवस्थाओं की विस्तार से चर्चा करेगे

## कीरम-काँटों की अवस्था

वच्चो के कला-अनुभवो की सवसे पहली अवस्था कीरम-काँटो की कही गयी है। पहले ही वताया जा चुका है कि वच्चा जो कुछ भी हाथ मे आये, उससे परिचय करना चाहता है। इस परिचय की प्रक्रिया मे दो वातें होती है. एक तो यह कि वच्चा वस्तु को अपने ढग से जानना चाहता है, और दूसरा, वह उसका इस्तेमाल सयानो की तरह करने की कोशिश करता है।

## साधन से परिचय

कोई ऐसी वस्तु, जिससे दाग लग सकता है या जिससे लकीरें खीची जा सकती है, अगर शिशु के हाथ में आ जाय और अगर वह या तो किसीको उसे इस्तेमाल करते देखकर या अपने-आप किसी अकस्मात् कारण (एक्सीडेंट) से यह शोध कर ले कि उससे दाग लग सकता है, तो वह शिशु अपने इस शोध का प्रकाशन करेगा और उसका अभ्यास भी (चित्र-सख्या २)। उसका शरीर और स्नायु (मसल्स) जितने विकसित होते हैं, उसका यह लकीरें मारने का ढग भी वैसा ही होता है। जव तक कि वच्चे की उँगलियो को वारीकी से पकडने की आदत नही पडती है, तव तक वह पूरे पजे से पेन्सिल पकडकर घिसेगा। तव तक कलई और कोहनी भी अलग-अलग काम नही करती। इसलिए इस अवस्था की लकीरे वह अपने पूरे हाथ, स्कधो के चला-चलाकर खीचता है। हम इस अवस्था को विशेष तौर पर

'स्नायु-उपयोग-प्रधान' ( मस्क्यूलर ) कहें, तो उचित होगा। वालक की ये पहली लकीरें गोलाकार किस्म की होती है ( चित्र-सख्या १ )।

## स्नायु-उपयोग-प्रधान अवस्था

इसका कारण यह होता है कि हाथ को गोल-गोल घुमाने मे कुछ रुकावट नही होती। इसलिए वालक को किसी 'क्रण्ट्रोल' की जरूरत नही होती। तव तक उसकी कण्ट्रोल करने की शक्ति भी उतनी विकसित नही हुई होती है। परन्तु कुछ अभ्यास के वाद उसका हाथ कागज के एक किनारे से दूसरे किनारे तक चलने लगता है और वह कोणाकार ढंग से हाथ चलाने लगता है ( चित्र-संख्या ४ )।

इस अवस्था मे वच्चा किसी वस्तु का चित्र नही वनाता। वह केवल लकीरे ही खीचता है। पूछने पर भी वह किस चीज का चित्र वना रहा है, इसका उत्तर नही दे सकता; क्योकि चित्र वनाने के पहले या वनाते-वनाते उसके मन मे कोई योजना नही होती। चित्र वनाने मे जो शारीरिक हलचल होती है और जो चित्र वनता है, वही उसके व्यक्तित्व का आत्म-प्रकटन होता है।

## कीरम-काँटों का नामकरण

इस अवस्था में लेखन इस्तेमाल करने का जव थोड़ा-वहुत अभ्यास हो जाता है, तव वह कभी-कभी अपने इन 'कीरमकाँटो' को नाम देना शुरू करता है। यह जरूरी नही कि उसके ये नाम इन लकीरों के आकार से सम्वन्ध रखते हों। वह केवल यह कह देने से ही संतुप्ट हो जाता है कि वह फलानी चीज का चित्र है ( चित्र-संख्या ५-६ )।

इस अवस्था की तीसरी पँडी यह होती है कि वच्चा अपनी इस कीरमकाँटोवाली तसवीर का कुछ आकारों के साथ—वस्तु के साथ सादृश्य अनुभव करता है और वह लकीरे खीचने के दौरान मे वने इन आकारो का नामकरण कर देता है। अभी तक वह ऐसी अवस्था

मे होता है, जब कि चित्र बनाने के पहले क्या बना रहा है, यह नही जानता। लेकिन इसके बाद वह अमुक चित्र बनाने जा रहा है, इस इरादे से बैठता है। यह अवस्था वह है, जब कि उसके दिमाग मे प्रतीक बनने शुरू हो जाते है और चित्र बनाने के पहले उसके मन मे योजना बन गयी होती है ( चित्र-सख्या ९-१० )।

इसीके साथ-साथ बच्चे की उँगलियाँ और हाथ चलाने मे भी विकास होता रहता है। वह बडो की तरह हाथ चलाने की कोशिश करता है। कधा और कुहनी के बदले केवल कलाई और बाद मे कलाई न चलाकर केवल उँगलियाँ ही चलाता है। अब बच्चा जो कुछ भी बनाता है, वह योजना के साथ बनाता है। कुछ शिक्षक कहते है कि यह योजना बच्चे के मानस मे निश्चित स्वरूप की होती है। लेकिन हमारा अनुभव यह है कि योजना का स्वरूप हर क्षण बदलता रहता है। अगर एक तरह के आकार को वह एक वस्तु का नाम देता है, तो यह जरूरी नही कि हमेशा ही उस वस्तु के लिए वह वही आकार बनाये। योजना के साथ बनाने का यह अर्थ है कि वह जो भी बनाता है, वह उसके मन मे जाने या अनजाने स्पष्ट होता है। वह उसकी बाह्य और आतरिक अनुभूतियो का प्रकाशन होता है।

बच्चे की वैसे तो सभी प्रवृत्तियाँ इन अनुभूतियो का प्रकटन होती है। जो लकीरे और कीरमकाँटे वह आरम्भ मे बनाता था, वे भी ऐसे ही प्रकटनार्थ थे। फर्क केवल यह है कि अब यह प्रकटन ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है, जिसे सयाने भी पहचान ले। प्रारभिक अवस्था मे लकीरे खीचना और रेत और मिट्टी को कुछ-न-कुछ आकार देने की प्रवृत्ति भी उसके अन्दर की भावनाओ को स्थूल रूप मे प्रकट करना ही है।

## प्रतीक-प्रधान अवस्था

'योजना' पर आधारित चित्र बनाने के साथ-साथ प्रतीक-काल शुरू हो जाता है। अक्सर बच्चे पहले-पहल आदमी की शक्ल बनाने

है। इसके और कारण चाहे कुछ भी हों, हमारी मान्यता यह है कि वालक मनुष्य का चित्र पहले इसलिए वनाता है कि वह अन्तर्मुखी होता है और मनुष्य ही उसके सवसे नजदीक की 'वस्तु' होती है। आदमी के चित्र के वाद अधिकतर वालक मकान वनाना पसंद करते हैं। धीरे-धीरे अन्य वस्तुओं के प्रतीक वनते हैं। ये वस्तुएँ वच्चे से जितना अधिक गहरा सम्वन्ध रखती होंगी, उतना ही वार-वार वे वच्चों के चित्रो में प्रतीक के रूप में आयेंगी।

एक प्रत्यक्ष उदाहरण देना ठीक होगा। 'क' नाम के एक वालक ने दो और तीन साल के वीच की उम्र में चित्रकला की प्रवृत्ति में वहुत कम भाग लिया था, लेकिन तीन साल का होते ही उसने अपनी चित्रकला की कापी पर रंगीन कांडियों ( क्रेयोन ) से चित्र वनाने शुरू किये। उसके आरम्भ के कुछ ही दिनों के अन्दर जव वह चित्र वना रहा था, तो एक दिन उससे मैंने पूछा : "क्या वनाया ?" उसने कहा : "चित्र"। कुछ देर वाद मुझे आवाज देकर कहता है : "देखो साँप, कितना वड़ा साँप !" कुछ और देर वाद एक 'साँप' वना और फिर दूसरा साँप ऐसा वना, जिसके दोनों सिरे पहले 'साँप' के दोनों सिरों से मिले हुए थे। फौरन यह उत्साही कलाकार चिल्लाया : "देखो रामचंद्रजी का धनुष" और यह कहते ही उसने वीच में एक तीर की रेखा भी खींच दी : 'रामचंद्रजी तीर मार रहे है!' 'क' ने दो मास पहले ही हमारी आनंद-निकेतन शाला के वच्चों द्वारा खेली गयी रामलीला देखी थी। उसके वाद तीर-धनुष का खेल वड़ा मजेदार काम वन गया था। यह वालक वाद मे या तो वह आकार वनने के वाद 'रामचंद्रजी का धनुष वनाया', यह कहता था या वह पहले कहकर धनुष का चित्र वनाता था ( चित्र-संख्या ७ )।

यह प्रतीक-काल जरूरी नही कि तभी आरम्भ हो, जव कि इसके पहले की अवस्था समाप्त हो चुकी हो। आम तौर पर काफी समय तक ये दोनों अवस्थाएँ एक-दूसरे के साथ-साथ चलती है और कुछ समय के वाद, जव कि कुछ प्रतीक निश्चित आकार पा लेते है, तव कीरमकाँटे की अवस्था पूरी-पूरी समाप्त हो जाती है।

कीरमकांटो की अवस्था समाप्त होने के साथ-साथ यह नही समझना चाहिए कि बालक को स्नायुओ की हलचलो द्वारा जो आनद मिलता रहा है, उसकी अवस्था भी समाप्त हो जाती है। यह कुछ 'करने' का जो आनन्द है, वह तो कभी खतम नही होता। इस 'कुछ करने' के आनन्द का जिक्र हम काफी पहले कर चुके है।

## प्रतीक क्या है और कैसे बनते है ?

कला-चर्चा मे यह प्रश्न बडा महत्त्व का है। बच्चो की कला के सिलसिले मे तो इस प्रश्न का अच्छा अध्ययन करना जरूरी है। आम तौर पर बच्चो की कला को समझने मे गलती होती है। इसका यही कारण है कि बच्चे के मन मे जो आकार निर्माण होते है और जो कि प्रतीक के रूप मे प्रकाश पाते है, उन्हे सयाने समझ नही पाते। इसीलिए शिक्षक इस 'प्रतीकवाद' की अवहेलना करके बच्चे के मन मे वास्तविक आकारो को लादने की कोशिश करता है।

शिक्षक के लिए यह जरूरी है कि बच्चे के इस प्रतीकवाद की प्रक्रिया को समझे। इसे न समझ पाने का भी कारण है। एक समय था, जब कि सारी कला प्रतीक-प्रधान थी। उस समय हर व्यक्ति अपने समाज के प्रतीकवाद को 'पढना' जानता था। चित्र, मूर्ति, सगीत या और किसी भी कला के निर्माण मे जिन प्रतीको का उपयोग हुआ होता था, उसे हर व्यक्ति परम्परागत अनुभव के कारण समझ सकता था। आम व्यक्तियो के लिए भी कला मे प्रतीकवाद सामान्य वस्तु होती थी। प्रतीक चाहे वास्तविक आकार से कितना भी भिन्न क्यो न हो, किसीके मन मे यह प्रश्न उठना शायद मूर्खता का चिह्न माना जाता होगा: 'यह तो फलानी चीज जैसा नही दीखता'। एक उदाहरण अजता के चित्रो मे से ले। कई जगह चित्रकार ने चट्टाने और पहाड़ बनाये है, लेकिन ये बिलकुल भी वास्तविक नही दीखते। फिर भी जहां ये 'चट्टानें', जो केवल पत्थरो के ठोस ज्यामिति के आकार जैसे दीखते है, चट्टानें और पहाड़ ही है। उनके बारे मे क्या कोई यह बात उठाता

होगा कि चित्र अच्छा नहीं वना ? इसका अर्थ है कि साधारण दर्शक के स्वभाव में ही यह वात आ गयी थी कि वह प्रतीक देखते ही उसके पीछे की विचारधारा का अर्थ समझ ले और अपनी कल्पना द्वारा उस आकार को 'देख ले', जिसका प्रतीक वनाया गया है।

यह वात ससार की सभी सभ्यताओं की कला मे थी। खास तौर पर भारतीय और पूर्वीय देशो मे यह गुण कुछ वर्ष पहले तक भी था। केवल यूरोप की तेरहवी शताव्दी के वाद की कला मे प्रतीकवाद कम होकर वास्तविकतावाद आता गया। उसका असर आगे यह हुआ कि आम तौर पर लोग आज प्रतीक के उपयोग को विलकुल भूल ही गये है। साधारण तौर पर मनुष्य का स्वभाव यह वन गया है कि कला में वास्तविकतावाद अधिक अच्छा समझा जाने लगा। यही कारण है कि वच्चो की कला, जो कि वुनियादी तौर पर प्रतीकवादी है, कम लोग समझ पाते है।

इसके लिए आदिवासी समाज मे वच्चों की कला का क्या स्वरूप होगा, इसे समझने की कोशिश करे। माउंट फोर्ड नाम के एक पंडित, जिन्होंने आस्ट्रेलिया के आदिवासियो का विशेष अध्ययन किया है, कहते है कि "आस्ट्रेलिया की कुछ आदिवासी जातियो में वच्चे वहुत छोटी उम्र से ही चित्र वनाते है। उनके चित्र आम तौर पर सयानो के चित्र जैसे ही होते है।" इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ सयानों की कला में प्रतीकवाद को स्थान होगा, वहाँ उनके वच्चो की कला को वास्तविकता-वाद का कोई खतरा नही होगा।

प्रतीकों को समझने के लिए कोई विशेष ट्रेनिंग की जरूरत नहीं पड़ती, क्योकि हमारे साधारण व्यवहार मे हम इतने प्रतीक इस्तेमाल करते है कि उसका कोई ठिकाना नही। यह ट्रेनिंग की वात नहीं, दृष्टि की वात है। खास तौर पर वच्चों की कला मे अगर हम यह विचार समझ लें कि उसकी दृष्टि प्रतीक-प्रधान रहती है, तो उसे समझना आसान हो जायगा, क्योकि जो प्रतीक वच्चे वनाते है या उपयोग करते है, उनकी कोई दार्शनिक वुनियाद नही होती। जिस तरह प्राचीन

कला के प्रतीक दार्शनिक या तात्रिक विचारो पर वने है, वच्चों की कला मे उपयोग किये गये प्रतीक किसी परम्परागत विचारधारा को नही दरसाते। ये तात्कालिक वस्तुओ और भावो के प्रतीक होते है। वच्चे को वाहरी जगत् के साथ जो आँख और दूसरी इद्रियो द्वारा अनुभव होते है, वे उसीके 'चिह्न' होते है। इसलिए उनको समझने के लिए किसी परम्परा की जरूरत नही। शिक्षक अगर वच्चे के मन को समझता है, तो उसे इन आकारो का अर्थ समझने मे कोई खास प्रयत्न नही करना पडेगा।

वच्चे कोई व्यवस्थित प्रतीकवाद नही निर्माण करते। उनके प्रतीक अक्सर वदलते रहते है। वे एक ही आकार को एक से अधिक वस्तुओ के लिए भी वना देते है। यह जरूरी नही कि ये प्रतीक वस्तु-विशेष से कोई आकार का सम्वन्ध रखें। यह भी जरूरी नही कि आज निर्माण किये गये प्रतीक का कल भी उसी अर्थ मे या उसी आकार मे उपयोग किया जाय। लेकिन वे प्रतीक सभी वच्चो की कला मे आम तौर पर एक जैसे ही होते है। इसका कारण वच्चो की मानसिक शक्ति और दृष्टि के सार्वभौम ( यूनिवर्सल ) नियम है। इस सार्वभौमता ( यूनिवर्सिलिटी ) के कारण वे प्रतीक एक तरह की वुनियादी भाषा का स्वरूप ले लेते है और सयानो के लिए वह भाषा ऐसी है, जिसे खुलासा करके या अनुवाद करके समझने की जरूरत पड सकती है। इसलिए यह जरूरी है कि शिक्षक अपने-आपको इस प्रतीकवाद से पूरा-पूरा परिचित कर ले और उनके वनने मे जो मानसिक प्रक्रियाएँ होती है, उन्हे भी समझ ले।

प्रतीक-निर्माण सामाजिक प्रवृत्ति है। व्यक्ति ने जो देखा या अनुभव किया, अगर उसे वह किसी दूसरे को वताना या दिखाना हो, तो ससूचन ( कम्युनिकेशन ) के किसी माध्यम का उपयोग करना पड़ेगा। वह माध्यम शब्द, मुद्रा या चित्र आदि हो सकते है। शब्द का माध्यम वोलने की भाषा है। किसी भी भाषा के अक्षर और शब्द प्रतीक ही है, जो उस समाज मे सहज भाव से वन गये होते है। उदाहरणार्थ : 'कलम' शब्द सवने मान लिया कि उस साधन के लिए वोला या लिखा

जायगा, जिससे लिखने का काम किया जाता है। 'कलम' शब्द जहाँ भी लिखा होगा, उस भाषा के लोग बिना किसी स्पष्टीकरण के उसका अर्थ समझ लेगे। शब्द की दूसरी भाषा संगीत है। वह अक्षर और शब्द की भाषा से कुछ अधिक सूक्ष्म है। इसी तरह मुद्रा की भाषा नृत्य, नाट्य है। भारतीय नृत्य की भाषा तो पूरी-पूरी प्रतीकमय ही है। हर मुद्रा का विशिष्ट अर्थ है, जो परम्परागत अनुभवों से बना है और उसे समझने के लिए उस परम्परागत भाषा को जानने की आवश्यकता है।

चित्र की भाषा रेखा, आकार, रंग आदि द्वारा मानसिक प्रति-बिंब को प्रकट करने से सम्बन्ध रखती है। इसमे आकार दो तरह के हो सकते है: एक तो वह, जो कि वस्तु की ठीक-ठीक आकृति के रूप का हो और दूसरा वह, जो वस्तु की वास्तविक शक्ल से भिन्न दीखे। ये दूसरे प्रकार के आकार अधिक 'भावात्मक' और प्रतीक-प्रधान होते है। जो आकृति की नकलवाले आकार होते है, उनमें वास्तविकतावाद होना हमेशा जरूरी नही। वे काफी हद तक अलंकृत रूप लिये या परिवर्तित भी हो सकते है। यानी कला मे जो भी आकार इस्तेमाल किये जायँ वे प्रतीक-प्रधान या कम-से-कम सुझावात्मक बने। प्राचीन कल वास्तविक न होकर सुझावात्मक होती है। आधुनिक कला में भी इस प्रकार का झुकाव दीख रहा है। वास्तविक आकृति का निर्माण ऊँच कला का चिह्न नही है। हमे अंतर केवल यह दीखता है कि प्राची कला का जो प्रतीकवाद था, वह परम्परागत होता था और आज व कला का व्यक्तिगत है। बच्चो की कला का प्रतीकवाद भी व्यक्तिग होता है, यह पहले कह ही चुके है।

बच्चे जो प्रतीक बनाते है, वे उनके चाक्षुप अनुभव का नतीजा न होते। उनकी यह कोशिश नही होती कि जिस वस्तु को वे बना रहे उसकी आकृति हूबहू खीच दे। जो आकार वे बनाते है, उनका कि वस्तु या विचार के साथ मानसिक सम्बन्ध ( असोसियेशन ) होता है वे ऐसे प्रतिबिम्बों के चिह्न होते है, जो न तो चाक्षुप सत्य से सम्ब रखते है और न स्मृति-प्रतिबिम्ब ही होते है। जब किसी विच

या वस्तु के साथ वच्चे को अनुभव होता है, तो उसके साथ के मानसिक सम्वन्ध ( असोगियेशन ) को लेकर उसके मन मे कुछ काल्पनिक प्रतिविम्व वन जाते है। ये प्रतिविम्व उसके मन मे अन्तर्मुखी वास्तविकता रखते है। यानी ये प्रतिविम्व वच्चे के अन्तर्मुख जीवन के हिसाव से वास्तविक होते है। आकार मे ये विलकुल स्पप्ट होते है। इसलिए चित्र वनाते समय उनके ये प्रतीक भी अपना निश्चित स्वरूप रखते है, कम-से-कम उस समय के लिए तो रखते ही है।

वच्चे की यह प्रवृत्ति कला-प्रवृत्ति तो होती ही है, लेकिन इसे सचालित करनेवाली शक्ति संसूचन करने की प्रवल इच्छा होती है। इसलिए वच्चे का प्रयत्न सोच-समझकर एक 'पैटर्न' वनाने का नही होता, वल्कि ससूचन की भाषा तैयार करने का होता है। ससूचन करने की इच्छा यानी अपना भाव दूसरो को वताने की इच्छा मुख्य और कला-प्रवृत्ति गौण स्थान रखती है, ऐसी वात नही है। असलियत यह है कि कला-प्रवृत्ति वच्चे के व्यक्तित्व का एक अविच्छिन्न अंग होती है और वह इस ससूचन करने की प्रवल इच्छा के कारण प्रकाश पाती है। वह जो चित्र वनाता है, उसे वह चाहे जाने-वूझे एक कलात्मक भात ( पैटर्न ) वनाने की इच्छा से न वनाये, फिर भी वह एक कलात्मक भाति होता है। इसका कारण यह है कि वच्चे का व्यक्तित्व प्राकृतिक तौर पर ही छदमय होता है। वह जितना भी सयानो के असर से मुक्त होगा, उतना ही अधिक सन्तुलन उसकी कृतियो मे होगा। इसलिए आत्म-प्रकटन का माध्यम जव चित्र के रूप मे होगा, तव उपयोग किये गये आकार चिह्न या प्रतीक वनकर प्रकट होगे।

चूंकि वच्चे की चितन-शक्ति अभी तक तार्किक नही होती, उनके मन मे यह अनुभव, जो कि उसके विलकुल व्यक्तिगत होते है, वाहरी जगत् की वास्तविकता से सम्वन्ध नही रखते। वे उनकी कल्पना के प्रतिविम्व के रूप मे तैयार होते रहते है। उन्हे वह किसी तरह वाहर प्रकट करना चाहता है। उन्हे प्रकट करने के लिए उसे यह प्रतीकवाद निर्माण करना पड़ता है।

उम्र के हिसाव से जसे-जैसे वच्चे की चिंतन ( तार्किक ) -शक्ति विकसित होती है, वह जैसे-जैसे अधिक भावात्मक ( एव्स्ट्रेक्ट ) होती जाती है, वैसे-ही-वैसे उसके ये काल्पनिक प्रतिविम्व और प्रतीक गौण होते जाते हैं।

छोटी उम्र में जो प्रतीक वनते हैं, उनके अध्ययन से पता चल सकता है कि वच्चा चित्र वनाते समय अपने चाक्षुप अनुभवों का उतना उपयोग नही करता, जितना अपने मन मे वने हुए काल्पनिक प्रतिविम्वों का। अक्सर वच्चे पहले-पहल मनुप्य का चित्र वनाते है। अगर वह उनके चाक्षुप अनुभव का परिणाम होता हो, तो जैसा कि सयाने जानते है, मनुप्य का चित्र वनाने की कठिनाई के कारण या वनाने के वाद उसकी गलती को अनुभव करते ही वे उसे फिर वनाने का साहस नहीं करेंगे। लेकिन वच्चा जव आदमी का चित्र वनाता है, तो वह हमेशा ही उससे सतुप्ट होता है। वह इसलिए कि जो चित्र वना, वह आदमी जैसा नही, वल्कि उसके मानसिक प्रतिविम्व का ठीक चित्र वना।

छोटी उम्र मे चूंकि वच्चे का मन और उसके निरीक्षण और चिन्तन की शक्ति सरल होती है, इसलिए उसके प्रतीको का आकार भी सरल होता है। उसमें जटिलता कम होती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन प्रतीकों का आकार विकसित होकर धीरे-धीरे जटिल होता जाता है। इसका कारण यह है कि वालक को वस्तु के साथ अधिक चाक्षुप अनुभव होता है और यह अनुभव उसे वस्तु या विचार की अधिक वारीकियो मे ले जाता है। जो प्रतीक पहले सरल थे, वे या तो उसी वुनियादी रूप को कायम रखते हुए कुछ जटिलता ले लेते है या विलकुल नया रूप ग्रहण कर लेते है। इस तरह वालक के मन मे प्रतीक वनते और विकसित होते रहते है। इनका विकसित होने का अर्थ यह नही समझना चाहिए कि उनके रूप मे वास्तविकता आ जाती है। इस अवस्था में भी वे प्रतीक ही रहते है। एक समय तक यह अवस्था प्रधानतः प्रतीकवाद की ही रहती है।

× × ×

इन अवस्थाओ के बारे मे अक्सर निश्चित उम्र तय की जाती है। कुछ हद तक तो इन अवस्थाओ की उम्र इस तरह निश्चित करना ठीक होता है, लेकिन हर बच्चा दूसरे बच्चे से इतना अलग 'प्रकार' का होता है कि इन अवस्थाओ मे साधारण कल्पना से कही अधिक अन्तर हो सकता है। अनगिनत अनुभवो मे से एक यहाँ बयान कर देने से आशा है, इस प्रश्न की कुछ सफाई हो जायगी। बारह साल की एक लडकी ने जब चित्र बनाना शुरू किया, तो उसने ऐसे चित्र बनाये, जो आम तौर पर सात साल के बालक का काम कहा जायगा। यह तो एक आत्यतिक उदाहरण हुआ, लेकिन आम तौर पर दो-तीन साल का फर्क होना कोई आश्चर्य की बात नही होती।

कीरमकाटो की अवस्था आम तौर पर चार साल की उम्र तक चलती है। चार साल की उम्र के लगभग प्रतीक की अवस्था शुरू हो जाती है। पहले ही कहा जा चुका है कि इन अवस्थाओ के ऐसे नियम नही है कि एक अवस्था एक दिन खतम हुई और दूसरी अगले दिन शुरू हो गयी। एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे प्रवेश करने की प्रक्रिया का काल ऐसा होता है, जिसमें समाप्त होनेवाली और नयी आनेवाली अवस्था साथ-साथ चलती है। यह तबदीली अचानक नही होती, बल्कि धीरे-धीरे बिना किसी स्पष्ट प्रदर्शन के अपने-आप ही हो जाती है।

## बच्चों का रंग-बोध

चार-पाँच से लेकर आठ-नौ साल तक 'प्रतीक-काल' रहता है। यह अवस्था बच्चे की सृजनात्मक प्रवृत्ति के लिए सबसे अधिक क्रियाशील होती है। इस तरह प्रतीक और आकृति के आकार मे बडा अन्तर होता है। इसी तरह रग के चुनाव मे भी अपनी एक विशेषता रहती है। प्रकृति के रगो से बच्चे के चित्र मे उपयोग किये गये रग बिलकुल निराले हो सकते है (चित्र-सख्या रगीन २ और ४)। मेरे सामने इस उम्र के बच्चो के सैकडो चित्र है। इनमे से बहुत से ऐसे है, जिन्हे बच्चो की कला से अपरिचित व्यक्ति यह कहकर अलग कर देगा कि आदमी

का मुँह क्या हरा होता है? क्या वह नीला होता है या छत नीली और आकाश पीला होता है?

बच्चे वास्तविक रंगो की नकल नही करते, वल्कि अपने चुनाव के अनुसार रंगो का उपयोग करते है। यह गुण वुनियादी तौर पर सृजनात्मक वृत्ति का अग होता है, नकल या हूवहू वनाने की वृत्ति नही। यही स्वभाव ऊँची कला का भी होता है। अजंता, राजपूत आदि कला-शैलियों को अगर सरसरी नजर से भी देखा जाय, तो ध्यान में आ जायगा कि रंगों का इस तरह का चुनाव वच्चो की कला मे ही नहीं, वल्कि सभी कला-शैलियो मे पाया जाता है। आज जव कि साधारण व्यक्ति यूरोप की कला से, वास्तविकता-प्रधान कला मानकर परिचित है, उस कला का भी यही स्वभाव था। पंद्रहवी शताव्दी में 'रेनेसा' के पहले यूरोप की ईसाई-कला मे रगो का चुनाव भी पूर्वी कलाओं की तरह का था। वहाँ वास्तविकता-वाद 'रेनेसां' आने पर प्रारम्भ हुआ। रगो के इस तरह आलंकारिक चुनाव के पीछे अनुकरणात्मक नही, वल्कि सृजनात्मक वृत्ति होती है।

शुरू-शुरू में जव वच्चे को रगों का डिव्वा मिलता है, तो वह उसे वड़ी रुचि के साथ देखता है और उसकी परीक्षा करता है। वह रगों से शुरू-शुरू मे जव चित्र वनाता है, तो उसका पूरा चित्र एक ही रंग की रेखाओ से वनता है। इसका कारण यह हो सकता है कि जो भी रग वह हाथ मे लेता है, उससे वह इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे दूसरे रग का खयाल भी नही रहता। यह भी हो सकता है कि रंग इस्तेमाल करने की उसकी वृत्ति के विकास के लिए कुछ समय की जरूरत होती है। उस समय उसे प्रत्येक रग के साथ परिचय करने की जरूरत होती होगी। एकदम शुरू के दिनो मे वह रगो के आपसी सम्वन्ध के वारे मे इसीलिए सज्ञान नहीं होता। यह अवस्था कुछ दिन तक चलती है। फिर वह एक के वदले दो और फिर अधिक रंगो को इस्तेमाल करने लगता है। रगो के पहले अनुभव मे जो चुनाव वच्चा करता है, वह रग के डिव्वे से करता है। वाद मे चुनाव उसकी 'मानसिक चित्र-योजना' द्वारा निश्चित किया जाता है।

रंगो का पहला उपयोग केवल रेखा द्वारा ही होता है। मकान लाल है, तो वह लाल रेखाओं से बना मकान होगा। रग भरने की अवस्था दूसरी है। बच्चा रग भरकर जब चित्र बनाना शुरु करता है, तो रंगो से रेखाकार बनाकर उसमे रग भरता है। जिस आकार में रग भरा जायगा, वह स्वाभाविक ही अधिक दीखेगा। इसलिए रगीन रेखाओ की अवस्था और रग भरने की अवस्था के बीच के काल मे यह छोटा चित्रकार केवल उसी आकार मे रग भरता है, जिसे वह चित्र मे अधिक अहमियत देना चाहता हो ( चित्र-सख्या १३ )। अगर आदमी की कमीज नीली है और अगर वह नीली कमीज चित्र का मुख्य विषय है, तो हो सकता है कि बाकी चित्र तो रगीन रेखाओ से बने और उसकी कमीज नीले रग से भरकर बने।

इस अवस्था की चित्र-व्यवस्था के बारे मे भी चर्चा करना जरूरी है। शुरु-शुरु के प्रतीक सरल होते है और चित्रो के विषय भी सरल होते है। प्रतीक-काल के आरभ के चित्र अक्सर एक-दो सरल प्रतीको द्वारा ही बनते है। अगर इस समय बच्चे को कागज और लेखनी देकर चित्र बनाने के लिए कहा जाय, तो वह अपनी मानस-योजना द्वारा इस कागज पर जो चित्र बनायेगा, उसमे यह जरूरी नही कि पूरे कागज की जगह का उपयोग हो। हाँ, आम तौर पर यह अवश्य देखा गया है कि उनका स्थान-निर्णय विशेष प्रकार का होता है। उसी कागज पर वह फिर और कुछ बना देता है। यह दूसरा चित्र पहले चित्र से सम्बद्ध नही होता। इसी तरह इस अवस्था मे बच्चे एक ही कागज पर कई 'चित्र' बना देते है। इनके इन चित्रो के बारे मे यह कहना ठीक होगा कि एक कागज पर बने हुए चित्रो के अलग-अलग प्रतीको मे कोई विचार-समन्वय नही होता। विचार-समन्वय या विषय-समन्वय के अभाव के कारण चित्र मे 'देश' ( स्पेस ) की भावना भी नही आती। जिस पट पर वे चित्र बने है, वह केवल कागज या ऐसी कोई चीज नही, बल्कि वह 'देश' है, इसका भान उन्हे नही होता।

सयानो को लिखते देखकर कुछ बच्चे चित्र भी उसी तरह बनाना

शुरू करते है। याने कागज के बायें, ऊपरवाले कोने से चित्र बनाना शुरू होता है और वे उसे उसी तरह बनाते है, जैसे बायें से दाहिने सिरे की तरफ लिखा जाता है ( चित्र-संख्या ३५ )। इससे भी पता चलता है कि आरम्भ में बच्चो को देश का भान नही होता। उस भान को पाने के लिए कुछ समय लगता है। शिक्षा-शास्त्रियों के कथनानुसार इस बोध के विकास के लिए कला-अनुभवों द्वारा बड़ी मदद मिलती है। अगर कला-अनुभव न दिये जायें, तो आम तौर पर यह भान देर से आयेगा। वे कहते है कि 'सेस ऑफ परसेप्शन' के विकास के लिए कला-शिक्षा का बहुत महत्त्व है।

धीरे-धीरे बालक अपने प्रतीकों में समन्वय-निर्माण कर लेता है और उसके चित्र के सब प्रतीक किसी विचार ( आइडिया ) से सम्बद्ध होने लगते है। यह अवस्था पूरी विकसित होने पर चित्र मे खीचे गये किसी भी आकार को अगर बच्चे से पूछें, तो वह उसे चित्र के विषय से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रखनेवाली चीज ही बतायेगा ( चित्र-संख्या १४ )।

अब उसके चित्रों की पृष्ठभूमि मे भी रग आने शुरू होते है। आदमी जमीन पर खड़ा है, तो जमीन भी रंगीन बनती है। यानी चित्र-कार अब कागज की जगह का पूरा-पूरा उपयोग करता है। अब उसके चित्र मे वैचारिक ऐक्य—यूनिटी इन आइडिया—( चित्र-संख्या १६-१९ ) होता है। लेकिन देश-विन्यास ( कम्पोजिशन ) की दृष्टि से यह विकास कोई खास अहमियत का नही है। हाँ, किसी-किसी व्यक्तिगत उदाहरण मे विचार-ऐक्य के विकास के द्वारा देश-विन्यास की शक्ति को भी मदद मिलती है। जो बच्चे लिखने के तरीके से चित्र बनाना शुरू करते है, उन्हें खास तौर पर इससे लाभ होता है। क्योंकि जब एक कागज पर ऐसा चित्र बनाने की योजना होगी, जिसमे विचार का ऐक्य हो, तो उसकी स्थान-व्यवस्था की भी स्वाभाविक ही योजना बनेगी।

### बच्चों में देश-विन्यास का बोध जन्मजात

लेकिन आम तौर पर बच्चे के कला-धर्म में देश-विन्यास का

सन्तुलन स्वाभाविक ही पाया जाता है। इस कथन का सबूत हम अपने कुछ प्रयोगो के आधार पर देगे। मुझे बच्चो के चित्र देखकर हमेशा यह लगता था कि बच्चो को स्वाभाविक तौर पर स्थान-व्यवस्था का बोध ( सेंस ऑफ कम्पोज़िशन ) होता है। रोज-रोज बच्चे जो दर्जनो चित्र बनाते रहे, उनमे से अधिकतर की स्थान-योजना सन्तुलित होती थी। लेकिन साथ-साथ यह भी विचार मन मे आता था कि हमारी शाला के इन बच्चो को चित्रकला का कुछ अनुभव हो चुका है; हो सकता है, इसीलिए उनके चित्रो मे सन्तुलन होता हो। मैंने सभी बच्चो के प्रारम्भ-काल मे बनाये हुए चित्र सुरक्षित रखे थे। उन सब चित्रो को बारीकी से देखा। फिर भी मै इसी नतीजे पर आया कि चित्रकला मे देश-विन्यास का यह सन्तुलन स्वाभाविक ही होता है। इतने अनुभव के बाद मै खुद तो इसके बारे में पूरा-पूरा नि सशय हो गया। लेकिन केवल यह कह देने से तो माना नही जायगा कि यह कथन वैज्ञानिक तौर पर अनुभूत या परीक्षित है। इसके लिए 'वैज्ञानिक प्रयोग' करने की जरूरत होती है। इस तरह के वैज्ञानिक प्रयोगो की जरूरत केवल कला-दृष्टिवाले व्यक्ति को नही होती। शेष सभी बिना इस तरह के सबूतो के इस कथन को नही अपनायेगे। इसलिए मुझे इस विषय मे भी कुछ चिन्तन करना पड़ा और कुछ ऐसी पद्धति तैयार करने की जरूरत पडी, जिसके द्वारा वैज्ञानिक तौर पर इस कथन की परीक्षा की जा सके।

पहले यह तय किया कि यह प्रयोग ऐसे बच्चो पर किया जाय, जिन्हे पहले कभी इस तरह के कला-अनुभव न हुए हो। दूसरे, यह भी जरूरी था कि बच्चे चुनकर नही, बल्कि कक्षा के सभी बच्चो को एक साथ लेकर, एक ही परिस्थिति मे यह प्रयोग किया जाय। गांव की पाठशाला की पहली, दूसरी कक्षा और बालवाडी की बडी टोली के बच्चो को इसके लिए तय किया। बालवाडी की टोली के बच्चो की उम्र ६-७ साल, पहली कक्षा के बच्चो की ७-८ साल और दूसरी कक्षा के बच्चो की उम्र औसत ८-९ साल थी।

## पहला प्रयोग

एक ही नाप के कागजों पर दो रंगों से कुछ विभाजन ( डिवीजन ) किया ( चित्र सख्या ४०, ४१ )। कागज की पूरी जगह को रगीन कोणाकार हिस्सों में वाँट दिया । हर वच्चे के लिए इस तरह का एक कागज तैयार किया । कागज के ऊपर एक तरह का पैटर्न वन गया था । उस पर वच्चों को चित्र वनाने के लिए कहा गया । तीनों कक्षाओं में वच्चो की संख्या औसत पद्रह थी । यह स्पष्ट समझाने के वाद कि चित्र कागज पर भाँतवाली तरफ ही वनाना है, करीव-करीव वीस प्रतिशत वच्चों ने फिर से पूछा कि क्या वे कागज की कोरीवाली तरफ चित्र वना सकते है ? इसके दो कारण हो सकते है : पहला यह कि उनमे से कुछ वच्चो ने यह सोचा होगा कि एक तरफ तो चित्र पहले से ही वन चुका है, उस पर क्यो वनाया जाय ? पीछे कोरा है, उधर वनाना अच्छा होगा। तैयार किये गये कागजों ने पैटर्न का स्वरूप ले लिया था। उस पैटर्न पर और कुछ चित्र वनाना उन्होंने उचित नही समझा। यह उनका पैटर्न के वोध का प्रमाण था। दूसरा कारण यह हो सकता है कि उस पहले से ही वने हुए पैटर्न पर चित्र वनाने से वच्चे की अपनी मानस-योजना में जिस तरह की स्थान-व्यवस्था रहती है, उसे वनाने मे रुकावट आयेगी और वह अपनी योजना द्वारा चित्र स्वतंत्रता से नहीं वना सकेगा। इसलिए उन्होने इजाज़त लेनी चाही कि वे कागज की कोरी वाजू पर चित्र वना सके। मैं तो इसका नतीजा यह निकालूंगा कि वच्चे के स्वभाव में ही चित्र की देश-व्यवस्था की एक अपनी खास योजना रहती है। यानी वह जो चित्र वनाता है, उसमे यों ही इधर-उधर रंग नही लगाता। उसका एक स्वगुण होता है, जो उसके चित्रों को देश-व्यवस्था की दृष्टि से सन्तु-लित वनाता है। इतना सव तो प्रयोग की भूमिका से निकला। इसका शायद अधिक महत्त्व नही। पर प्रयोग से क्या निकला, यह देखें।

वच्चो ने चित्र वनाना शुरू किया। कक्षा का वातावरण विलकुल स्वतंत्र रहा, जैसा कि आम तौर पर चित्रकला-वर्ग मे रहता है। यह

प्रयोग तीनों कक्षाओ मे करते समय यह महसूस किया कि दो-तीन बच्चो को छोडकर सभी ने बिना किसी हिचकिचाहट से रग और कूंचियो का उपयोग किया। इस तरह की परिस्थिति बच्चो के लिए दो समस्याएँ खडी करती है। उन दोनो समस्याओ को अपने तरीके से समझना और हल करना व्यक्तिगत अभिरुचि और स्वभाव पर निर्भर करता है। पहली परिस्थिति तो यह होती है कि चित्रकार कागज पर बने हुए भात ( पैटर्न ) के आकार को अनदेखा करके चित्र ऐसे बनाये, जैसे किसी कोरे कागज पर ही बना रहा हो ( चित्र-संख्या ४० )। अगर व्यक्ति मे इस तरह पृष्ठभूमि के पैटर्न को 'अनदेखा' करके देखने का गुण है, तो आकार की दृष्टि से समस्या हल हो जाती है। किन्तु रग उनके लिए एक ऐसा पहलू रह जाता है, जिसे अनदेखा नही कर सकना, क्योकि पैटर्न के लालवाले हिस्से पर वह अगर लाल रग से ही कुछ बनाये, तो वह दीखेगा नही और उसकी चित्र-योजना मे खटका पडेगा। इसलिए उसे रग की दृष्टि से कुछ इधर-उधर ( एड्जेस्टमेंट ) करना पडेगा। यह एड्जेस्टमेंट वही व्यक्ति अच्छे ढग से कर सकेगा, जिसे देश-विन्यास और रग-मेल का भान हो।

दूसरी परिस्थिति यह होती है कि जो चित्रकार इन कोणाकारों को अनदेखा करके चित्र न बनाना चाहे या न बना सके, उसके लिए यह जरूरी है कि इन आकारो का अपने चित्र मे उपयोग कर ले, या तो वह इन्हे पृष्ठभूमि के तौर पर मान ले या उन आकारो को अदल-बदलकर अपनी इच्छा का चित्र बनाये। जो चित्रकार इन आकारो को पृष्ठभूमि के तौर पर मानकर चित्र बनाना पसद करेगा, उसके सामने खास तौर पर एक समस्या उपस्थित होगी। वह यह कि जिस स्थान मे उसे कुछ बनाना है, उसके आकार-विशेष का ध्यान रखकर ही चित्र बनाये। जो भी चित्र उस स्थान के आकार के अन्दर बने, वह उससे सामञ्जस्य रखता हुआ होना चाहिए। यह बात देश-विन्यास के लिए सबसे जरूरी होती है ( चित्र-संख्या ४१ )। इस तरह की दृष्टि के लिए यह जरूरी है कि चित्रकार आकार के लाउटलाइन और

रंग दोनों के बारे में सचेत रहे। इस परिस्थिति का हल भी वही कर सकेगा, जिसे देश-व्यवस्था और रंग-मेल का भान हो।

जो चित्र बच्चों ने बनाये, उनकी जाँच इसी दृष्टि को सामने रखकर की गयी। कुल चित्रों की संख्या ४६ थी। इनमें से ३५ चित्र दूसरी परिस्थितिवाले थे। पहले से बनाये गये आकारो को पृष्ठभूमि मानकर ये चित्र बनाये गये थे। ऐसे चित्र, जिनमें चित्रकार ने इन आकारों को अनदेखा करके चित्र बनाया था, बहुत कम थे। इनकी संख्या ३ थी।

कुछ बच्चो ने कोणाकारो को अलग-अलग प्रतीको द्वारा भरा। कुछ ने सब आकारों को न भरकर कुछ में ही चित्र बनाये। इनमें से अधिकतर ने ठीक स्थान-निर्णय करके ही इन आकारों को भरा। इन आकारों में अलग-अलग प्रतीकों द्वारा चित्र बनानेवाले ८० प्रतिशत बच्चों के चित्र पृष्ठभूमि के आकार के साथ सामञ्जस्य रखनेवाले थे। जिन बच्चो ने पहले से बनाये हुए आकारो पर ध्यान न देते हुए चित्र बनाये थे, उनमे से जरूर कुछ ऐसे थे, जिनके चित्रों से पता चलता था कि उन्हें रंग का भान बिलकुल कम है। पूछने पर उनके शिक्षक से पता चला कि ये इने-गिने दो-तीन विद्यार्थी साधारण काम में भी काफी पीछे है और बुद्धि से भी औसत बच्चो से कम है। एक बच्चे ने लाल आकार के ऊपर लाल रंग से ही चित्र खीचा। पहले बनाने पर वह दीखता नही था, तो फिर से उससे खूब घना लाल रग लेकर उसीको बनाया। स्पष्ट है कि उसका प्रतीक लाल के सिवा और कुछ रग का हो भी नही सकता था। इसलिए उसने यह रग तो नही बदला, किन्तु उसे मोटा और उभरा हुआ बनाकर पूरा किया। यह उसके रंग की सचेतता को दिखाता है।

## दूसरा प्रयोग

पहले प्रयोग की तरह ही इसमें भी सब बच्चों के लिए एक-एक कागज तैयार किया। लेकिन इस बार चित्र रंग और कूंची से या रंगीन क्रेऑन से नही, बल्कि पेन्सिल से ही बनाना था। कागज पर, जैसा कि

चित्र-संख्या ३९ मे है, दो रेखाएं खीची गयी। ये दो रेखाएं कागज के सारे स्थान को तीन हिस्सों मे बाँटती थी। इन्हे खीचते समय मेरे अपने मन मे जरूर था कि ये दो पहाडियाँ है, लेकिन बच्चो को इनका कोई आभास नही दिया गया। यहाँ तक कि पूछने पर भी उन्हें यही बताया गया कि ये केवल दो रेखाएँ ऐसी ही खीची गयी है।

बच्चों को कागज देने के बाद उनमे कहा गया कि अपने कागजो को अच्छी तरह से देख ले। इसके लिए एक निश्चित समय दिया, तीन मिनट और कहा : "यह कागज चित्र बनाने के लिए दिया जा रहा है। इसके एक तरफ पेन्सिल से दो रेखाएँ खीची गयी है और दूसरी तरफ यह कोरा है। चित्र उधर बनाना है, जिधर रेखाएँ है। सबको अपने-अपने कागज पर एक-एक पेड़ का चित्र बनाना है। वह कही भी जहाँ अच्छा लगे, बना सकते है। कागज खडा या पडा कैसा भी व्यवहार में लाया जा सकता है। पेड केवल एक ही बनाना है, अधिक नही।"

सब बच्चो के पास पेन्सिले थी। उन्होने अपना-अपना काम शुरू कर दिया और अधिकतर बच्चो ने चित्र कुछ ही मिनटो मे पूरा करके ला दिया। दो-तीन बच्चे हर टोली मे ऐसे थे, जिन्होने अपने स्वभाव के कारण कुछ समय लिया। इनमे से कुछ को अधिक समय इसलिए लगा कि पेड को खूब बारीकी से बनाने मे उन्हे मजा आ रहा था। कुल ३५ बच्चो ने इस प्रयोग मे भाग लिया। इनमे कई तरह के और अलग-अलग जगह पेडवाले चित्र बने। ४५ प्रतिशत बच्चो ने खीची गयी दो रेखाओ को दो पहाड़ियाँ मानकर ही अपना पेड बनाया। यहाँ तक कि ११ बच्चो ने पेड दोनो पहाडियो के बीच मे, जहाँ कोई भी ट्रेनिंग पाया हुआ कलाकार बनाता, बनाया। इस प्रयोग मे जो कागज दिये गये थे, उन पर डिवीजन पहले से ही काफी सन्तुलित ढंग से किया गया था। इसमे जो समस्या चित्रकार के सामने थी, पहले प्रयोग से एक बात मे कही अधिक कठिन थी। पहली बात तो यह कि केवल एक ही पेड बनाना था। अगर वह गलत जगह बन जाय, तो पहले से बनी हुई डिवीजन का सन्तुलन बिगड़ जायगा और उसे सुधारने

के लिए दूसरा कुछ वनाने की इजाजत नहीं थी। यह एक समस्या थी, जिसकी कठिनाई वच्चों ने महसूस भी की। करीव दस वच्चों ने वड़े मीठे स्वर से मुझे फुसलाने की कोशिश की और कहा: "गुरुजी, क्या केवल एक ही पेड़ वनाना है, और कुछ नहीं वना सकते ?" यह वात उन्होने चित्र वनाते-वनाते वीच मे ही कही, यानी वे विगड़ते हुए सन्तुलन को महसूस कर रहे थे। अपने चित्र से उन्हे संतोष नही हो रहा था।

एक वच्चे ने वनी हुई रेखाओ को नही छुआ और कागज के तीन विभागों में से एक मे वड़ा पेड़ वना दिया। उसने रेखाओ द्वारा वनी पहाड़ी वगैरह को कुछ नही समझा। उन्हे कागज के तीन हिस्सो मे वाँटने-वाली रेखा समझकर इन तीन हिस्सों को तीन अलग-अलग आकारो से भरने की ही कल्पना की। इस कल्पना के अनुसार वावजूद एक ही पेड़ की मर्यादा के अपनी योजना का ही चित्र वनाया। जो पेड़ उसने वनाया, वह जिस आकार में वनाया, उससे वहुत सुन्दर ढंग से मेल खाता था। अगर यह मर्यादा तीन पेड वनाने की होती, तो वह तीनों विभागो मे अलग-अलग पेड़ वनाता, क्योकि उस उम्र में इतना हिसाव करना कि अगर एक हिस्से मे एक पेड़ वना दिया, तो दूसरे दो हिस्सों मे दी गयी मर्यादा के अनुसार और कुछ वनाने की गुजाइश नही रहेगी, वालक के लिए असंभव-सा ही है। इस दृष्टि से इस चित्र को मै अपूर्ण ही मानता हूँ। जितना हिस्सा उसने पूरा किया, उस पर ही उसकी शक्ति का निर्णय होना चाहिए। जिस स्थान मे उसने वह पेड़ वनाया, वह स्थान और वह पेड़ आपस में सामञ्जस्य रखते है, यही यथेष्ट है ( चित्र-संख्या ३९ )। सत्ताईस वच्चों के चित्र ऐसे वने, जिनमे देश-विन्यास ( सेन्स ऑफ स्पेस ) का वोध ठीक था।*

---

* इसी प्रकार का एक प्रयोग वाद में किया गया। पेंसिल की रेखा के वदले पहाड़ी, आकाश और भूमि रंग से वनाकर दी गयी। इस कागज पर भी एक पेड़ वनाना था। इस प्रयोग के नतीजे भी इसी प्रकार आये। इनमें से एक चित्र इस पुस्तक में दिया गया है ( चित्र-संख्या ३८ )।

इस तरह इन दोनो प्रयोगो का नतीजा स्पष्ट यही दिखाता है कि बच्चो की स्वप्रकृति में ही कुछ ऐसे गुण रहते है, जिनके कारण उनकी कला-कृतियो का देश-विन्यास (कम्पोजिशन) आम तौर पर सन्तुलित होता है। दस-पन्द्रह प्रतिशत बच्चो के काम में इस शक्ति की जो कमी देखी गयी, उसका क्या कारण हो सकता है? इसकी विस्तृत चर्चा करना हमारा विषय नही है। किन्तु परिस्थिति को और अच्छी तरह से समझने के लिए शायद जरूरी है कि इस मुद्दे पर भी सामान्य चर्चा कर ली जाय। ये बच्चे इस शक्ति से वचित क्यो रह गये? क्या उनमे बच्चो के गुणो की कमी थी? यह तो कहने की जरूरत नहीं है कि ये बच्चे जन्म से ही इस शक्ति से वचित नही रहे होगे। हाँ, एक-आध मौके ऐसे होते है, जब कि इन शक्तियो की कमी जन्मजात हो सकती है। किन्तु समाज की और बच्चे की अपनी पारिवारिक और व्यक्तिगत परिस्थिति के कारण बच्चे के विकास मे इस तरह की कमियाँ आ जाती है। साधारण-सी बात है कि व्यक्ति के मानस और शारीरिक शक्तियो पर भोजन का भी असर पडता है। खाद्यान्न की कमी के कारण शक्तियाँ क्षीण हो जाती है। केवल शारीरिक शक्ति नही, बल्कि कल्पना-शक्ति, चिन्तन-शक्ति आदि सभी कमजोर पड जाती है। बच्चो के पालको का मनोविज्ञान, उनका बच्चो के साथ का सम्बन्ध और बर्ताव बच्चो की मानसिक शक्तियो पर बहुत हद तक असर कर सकता है।

बच्चे की स्वप्रकृति के गुणो मे क्षीणता लानेवाले जो भी कारण हो, इन प्रयोगो को करने के बाद हमे पूरी आशा हो गयी कि अगर प्रयत्न किया जाय और धीरे-धीरे सामाजिक और पारिवारिक परिस्थिति सुधरे, तो बच्चो के ये गुण पूरे-पूरे विकसित हो सकते है।

हम एक बात यहाँ साफ कर देना चाहते है। ये प्रयोग ऐसे बच्चो को लेकर किये गये थे, जिनकी शिक्षा काम के द्वारा यानी उद्योग के आधार पर हो रही थी। ये ऐसे बच्चे नही थे, जो सामान्य प्राइमरी शालाओ की पुस्तकीय शिक्षा ले रहे हो। बुनियादी तालीम और

साधारण प्राइमरी शाला की शिक्षा में जमीन-आसमान का फर्क होता है। जिनकी शिक्षा उद्योग के द्वारा होती है, उनकी सृजनात्मक वृत्तियो को प्रकाश पाने और विकसित ोने का मौका मिलता है। उनकी विचार-शक्ति और बोध अधिक सूक्ष्म होता रहता है। पुस्तकीय तालीम पानेवाले बच्चो की स्मृति-शक्ति ही बढती है, बाकी शक्तियों को और हाथ से काम करने की शक्ति को खाद्य नही मिलता। इसलिए उनके मानस मे उस तरह के प्रतिबिम्ब तैयार नही हो पाते, जिनके आधार पर कल्पना-शक्ति को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है। फिलहाल हम चित्रकला तक ही अपनी चर्चा को सीमित रख रहे है। इसके साथ दूसरी वे कलाएँ भी शामिल हैं, जिनका सम्बन्ध चाक्षुष आकारों से आता है। आरम्भ में ही यह कह चुके है कि हम कला का अर्थ प्राचीन भारतीय चौसठ कलाओं के आधार पर करते है। अगर बच्चे हाथ का यानी दस्तकारी का काम कर रहे हों, तो वह कोई-न-कोई कला ही है। इसलिए उनकी सृजनात्मक शक्ति का विकास होता ही जा रहा है। इसीलिए हम यह मानते है कि उन बच्चों को कला-अनुभव होते ही जाते हैं । हालाँकि यह जरूर है कि उद्योग की ओर दृष्टि अगर सृजनात्मक न रहकर आर्थिक ही होगी, तो ये कला-अनुभव तुलना में बहुत कम होंगे।

चूंकि जिन बच्चों पर ये दो प्रयोग किये गये, वे बुनियादी शाला के बच्चे थे। यह कहना गलत होगा कि हमारा प्रयोग ऐसे बच्चों पर हुआ, जिन्हे पहले कला-प्रवृत्तियो से परिचय नही था। हाँ, उन्होने चित्रकला या मूर्ति आदि बनाने की कला का पहले 'ना' के बराबर ही अनुभव पाया था। इसलिए हो सकता था कि साधारण पुस्तकीय तालीम पानेवाले बच्चों पर अगर यह प्रयोग किया जाता, तो नतीजो में अन्तर आ सकता। इसके बारे में हमारा एक प्रश्न है। क्या वे बच्चे, जो केवल किताबी तालीम पा रहे है, 'नार्मल' कहे जा सकते है? आधुनिक शिक्षाशास्त्र के अनुसार 'नार्मल' विकास उसीको कहा जायगा, जिसमें बुद्धि और हाथ दोनों की तालीम साथ-साथ चल रही हो। बुद्धि और हाथ की तालीम केवल साथ-

साथ होने से नही चलेगा। दोनों को एक-दूसरे के साथ समवेत भी होना पडेगा। इसलिए अगर किताबी तालीम पाये बच्चे पर इस तरह के प्रयोगों के नतीजे अलग आये, तो उसे न तो प्रयोगों का कसूर कहा जायगा और न बच्चो का ही। आखिर उनका भी नतीजा तो यही होगा कि बच्चो की तालीम बुनियादी तौर पर बदली जानी चाहिए। तालीम सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए होनी चाहिए, न कि केवल स्मृति-शक्ति को यान्त्रिक बनाने के लिए।

हालांकि ये प्रयोग ऐसे बच्चो पर नही किये गये, जो किसी भी तरह की शाला मे न जाते हो। फिर भी मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसे बच्चो पर किये गये इस तरह के प्रयोग भी हमारे विचार की पुष्टि ही करेंगे। उन बच्चो की ड्राइग बिना शक यह दिखायेगी कि उनमे किसी-न-किसी परिमाण मे सन्तुलन का भान किताबी तालीम पानेवाले बच्चो से अधिक ही है। इसका कारण यह है कि चाहे वे पाठशालाओ मे जाकर बाराखडी या पहाडे न भी सीखते हो, खुले आकाश के नीचे विचरण करते हुए स्वाभाविक तौर पर जीवन की असलियत से परिचित होते रहते है। सामाजिक जीवन के साथ उनका सीधा सम्बन्ध रहता है। वे जीवन को किताबी तालीम की जाली के भीतर से नही देखते, बल्कि सीधी नजर से देखते है। यह लिखते हुए मेरे सामने जिन बच्चो का खयाल है, वे या तो ग्रामीण जनता के या शहर के गरीब और वे आवारा बच्चे है, जिन्होने स्कूल के कभी भी दर्शन नही किये है। उन बच्चो के घर के काम या उनकी आवारागर्दी की बदौलत या किसी भी तरह उन्हे कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष काम करना ही पडता है, जिसके कारण उनकी कल्पना-शक्ति डेस्क पर बैठकर पहाडे रटनेवाले बच्चो से अधिक तीव्र होती है। इसीलिए यह कहा कि अगर इस तरह के प्रयोग इन बच्चो पर किये जायँ, तो हमारे विचारो की पुष्टि ही होगी।

अब हम अपने मूल विषय, बच्चो के कला-विकास के प्रतीक-काल की चर्चा पर वापस आयेंगे। प्रतीक-काल, जो कि आम तौर पर देखा गया है, आठ या नौ वर्ष की उम्र तक चलता है। इस अवस्था मे बच्चा जो 'देखता है', उसका नही, बल्कि जो 'जानता है', उसका चित्र बनाता है।

## वास्तविकता-परिचय-काल

पिछली अवस्था के चित्र चूंकि चाक्षुष अनुभवों के नतीजे नहीं होते, उन्हें अगर 'तार्किक' कहा जाय, तो शायद ठीक होगा या फिर इन्हे 'यौक्तिक' भी कह सकते है।

वच्चे से अगर पूछें कि यह चीज तो ऐसी नही होती, जैसे तुमने वनायी, तो उसे वह तर्क द्वारा समझाने की कोशिश करेगा और कहेगा कि नही, वह तो ऐसी ही होती है। एक छह साल का वच्चा चित्र वना रहा था। उसने दो समानान्तर रेखाएँ खीची। वह थी उसकी सड़क। सड़क पर आदमी चल रहे थे। उसके पास वैठे हुए उसके मौसेरे भाई ने, जो पन्द्रह वर्ष का था और दूसरे गाँव से छुट्टी विताने के लिए आया हुआ था, उससे पूछा : "क्या चित्र वनाया ?" छोटे भाई ने जवाव दिया : "सडक पर आदमी चल रहे है।" यह सड़क पर चलनेवाले आदमी उसने सड़क की दिशा मे इस तरह वनाये कि मामूली तौर पर कहा जायगा कि वह सड़क पर लेटे हुए है ( चित्र-संख्या ४३ )। वड़ा भाई समझाने लगा : "अरे, आदमी क्या सड़क पर लेटे है ? अगर वह सड़क पर चल रहे हैं, तो देखो, ऐसे वनाना चाहिए।" यह कहकर उसने सड़क के साथ समकोण वनाते हुए एक लकीर खीची। आदमी जव सड़क पर खड़ा होगा, तो स्वाभाविक ही सड़क पर समकोण वनाते हुए खड़ा होगा। वड़ा भाई जो कह रहा था, वह अपने कला-अनुभव के अभाव के कारण कह रहा था। लेकिन छोटा भाई अपने मन मे स्पष्ट 'जानता' था कि आदमी सड़क की दिशा में ही चल रहा है, तो फिर ऐसा ही वनाना चाहिए, उसने यह युक्ति पेश की। यह वातचीत दोनो भाइयों के वीच अचानक ही हो गयी थी। अक्सर वच्चे के सचेत मन मे इस तरह का युक्तिवाद या तर्कवाद नही होता। यह युक्तिवाद की प्रक्रिया वालक के मन मे न जानते हुए ही हो जाती है। इसलिए हम इन चित्रो को यौक्तिक या तर्कसंगत कह रहे है।

प्रतीक-काल के चित्र अगर यौक्तिक या तर्कसंगत होते हैं, तो वास्त-

विकता-परिचय-अवस्था के चित्र चाक्षुप होते है। इन चित्रों पर चाक्षुप अनुभवों का प्रभाव होने लगता है।

आरभ में केवल आकारों का स्वरूप वास्तविक होने लगता है। किन्तु चित्र मे गहराई का भान नही होता ( चित्र-सख्या २६ )। वास्तविकता-परिचय-काल की यह पहली अवस्था है, जब कि बच्चे के चित्र मे तीसरी विमा ( डायमेन्शन ) का प्रवेश नही होता। पहले चित्र के आगे-पीछे की चीजे एक-दूसरे के ऊपर बनाना शुरु करता है। इस अवस्था के पहले अगर बडा पेड़ बनाया, तो उसके पीछे का आकाश पेड के पीछे नहीं, बल्कि पेड के ऊपर जो जगह कागज पर बची है या कोने मे, जहाँ पेड नही है, वहाँ बनायेगा। चित्र की अलग-अलग चीजे आगे-पीछे है। इनकी ओर वह ध्यान नही देता। मकान के अन्दर आदमी बैठा है, चीजे रखी है, यह सब अभी तक वैसे बनाता है, जैसे मकान के सामनेवाली दीवार काँच की या पारदर्शक हो ( चित्र-सख्या १७ )। ये सब चीजे एक मोटी अपारदर्शक दीवार के पीछे है, इस बात का उसके चित्र के लिए कोई महत्त्व नही होता। लेकिन चाक्षुप अनुभवो का असर पडना आरभ होने के बाद उसे तीसरी विमा का भी खयाल हो गया होता है।

पहले तो चीजो का आगे-पीछे रहना, एक-दूसरी चीजो की गहराई के हिसाब से उनके आगे-पीछे बनाना शुरु होता है। फिर हर व्यक्तिगत वस्तु की लम्बाई-चौडाई के अलावा उसकी मोटाई या गहराई पर भी ध्यान जाता है। उसके चित्रो मे परिप्रेक्षण ( पर्सपेक्टिव ) का भी प्रवेश होने लगता है। जो मकान केवल सामने की दीवार बना देने से ही पूरा हो जाता था ( चित्र-सख्या २० और २४ ), अब चित्रकार को मकान की बगलवाली दीवार भी 'दीखने' लगती है। वह उस दीवार का दृश्य भी दिखाना चाहता है ( चित्र-सख्या २९ )। उसे, पास का आदमी या कोई भी चीज बडी और वही चीज दूर चले जाने पर छोटी दीखने लगती है, इसका सिद्धान्त समझ मे आने लगता है।

वास्तविकता-परिचय-काल का समय बारह-तेरह साल की उम्र तक रहता है। इस अवस्था का विशेष महत्त्व है। इसमे बालक की कल्पना-

शक्ति का प्राधान्य न रहकर उसकी विवेचनात्मक शक्ति का प्राधान्य रहता है। चाक्षुप अनुभवो का अधिक असर होने के कारण वारीकियों पर नजर पड़ती है। इसी कारण वह अपने चित्र मे भी उन वारीकियो को दिखाना चाहता है। उसकी पूरी दृष्टि ही चाक्षुप-प्रधान हो जाती है।

वच्चों की कला की अवस्थाओ मे यह आखिर की अवस्था है। यह मानना ठीक होगा कि वास्तविकता-परिचय-काल के आखिर का समय ऐसा काल है, जिसकी कला 'वच्चो की कला' नही कही जा सकती। इस अवस्था के आखिरी काल को कुछ विशेषज्ञ 'दमन-काल' ( एज आफ रिप्रेशन ) मानते है। अगर इस उम्र मे भी कला-प्रवृत्ति जारी रहे, तो वह 'वच्चो की कला' की अवस्था से वदलकर 'सयानों की कला' वन जायगी। 'दमन-काल' से इसलिए कहा गया है कि यह ऐसी अवस्था है, जिसमे वच्चे की कुछ शक्तियों का दमन दूसरी कुछ शक्तियों द्वारा होता है। उसका वह विशेष प्रकार के मानसिक प्रतिविम्व अनुभव करने का गुण, जिसके द्वारा वह अपने काल्पनिक आकारो का निर्माण करता है, चाक्षुष अनुभवों और नयी पायी हुई विवेचनात्मक दृष्टि के द्वारा दव जाता है।

वाल्यावस्था में आत्म-प्रकटन का मुख्य सावन यही आकारो के उपयोग द्वारा चित्र की भापा थी। पहले कहा जा चुका है कि वच्चे की कला का एक वहुत वड़ा महत्त्व उसका एक संसूचन का माध्यम होना है। इसका एक कारण यह भी है कि जवान की भापा पर तव तक वालक इतना कावू नही कर पाता; जैसा कि आत्म-प्रकटन उसे करना है, वह उसे इस भापा मे नही रख पाता। जवान की भापा पर कावू पाने के लिए कुछ परिमाण में मानसिक क्रिया की जरूरत पडती है। आदिम मनुष्य के संसूचन का माध्यम भी कला-प्रवृत्तियाँ था। सास्कृतिक विकास के साथ-साथ उसने जवान की भापा का विकास किया। इसी तरह एक व्यक्ति के जीवन मे भी जवान की भाषा एक खास अवस्था पर पहुँचने पर ही आती है। तव तक उसका ससूचन का स्वाभाविक माध्यम होती है कला-प्रवृत्तियाँ, यानी आकार से सम्वन्व रखनेवाली भाषाएँ, चाहे वे चाक्षुप हों, चाहे श्रौत। प्रतीक-काल तक वालक के जीवन में आत्म-प्रकटन

के माध्यम के तौर पर कलात्मक प्रवृत्तियो का जो महत्त्व था, वह उसके वाद नही रहता। जवान की भापा, जो तव तक काफी कावू मे आ जाती है, उसका स्थान ले लेती है।

वुद्धि का विकास भी कुछ हद तक इस दमन के लिए जिम्मेवार होता है। वालक पहले अनजाने ( अन्कॉन्गस ) सर्जन करने मे आनन्द लेता था। वह तरह-तरह की परी-परिन्दो की कहानियो को सुनकर मोहित हो जाता था। अव चूंकि उसकी वुद्धि कहती है: 'यह तो ठीक नही, यह तो सम्भव नही', तो वह उस मजे को भूल जाता है। अपने चित्रों में प्रकृति के साथ आकारों की तुलना करता है और उनमें गल्ती महसूस करता है। वह उसके लिए निरुत्साह करनेवाला अनुभव होता है। जिस काम को वह ठीक तरह से नही कर सकता, उससे उसका दिल हट जाता है।

इस अवस्था मे अलवत्ता कुछ ऐसे वालक होते है, जो अपनी कला-प्रवृत्तियो को चालू रखते है। इनका काम वास्तविकता की तरफ झुकाव रखते हुए होता है ( चित्र-संख्या ३० )। वे प्रकृति की आकृति को ठीक-ठीक उतारने मे आनन्द लेते है, लेकिन इस तरह के वच्चो की संख्या कम होती है। फिर भी जो होते है, उनके वारे मे यह जानना जरूरी है कि वे एक खास 'मनोवैज्ञानिक प्रकार' ( साइकॉलॉजिकल टाइप ) के होते है। उनकी कला-प्रवृत्ति अगर वाद मे भी चालू रहे, और जैसा कि उनके 'प्रकार' की अपनी आवश्यकता होती है, उस तरह का प्रोत्साहन मिलता रहे, तो यह दमन-काल उनके विकास मे वाधा नही देगा। हो सकता है, उन वच्चो मे से कुछ वडे होने पर सफल चित्रकार वने। कला-प्रवृत्ति अगर चालू रहे और अगर वह पाठ्यक्रम का अंग वनकर रहे, तो वास्त-विकता-परिचय-काल मे काफी वच्चे ऐसे होंगे, जो चूंकि स्वतन्त्र आत्म-प्रकटन नही कर पाते या उसमे संकोच अनुभव करते है, वे या तो नकल करना शुरू कर देंगे या फिर जॉमिट्रिकल डिजाइन वनाने मे थोडी-वहुत रुचि लेने लगेंगे। यह उनकी कलात्मक, सृजनात्मक शक्ति के दव जाने के कारण होता है।

इस काल की चर्चा समाप्त करने के पहले एक बात और ! बाल्यावस्था में बच्चा जो कुछ भी देखता, सुनता या अनुभव करता है, उसे वह आत्म-केन्द्रित ( सेल्फ सेण्टर्ड ) नजर से अपनाता है। उसे लगता है कि जो कुछ भी है, वह उसीके चारों ओर है और उसीके लिए है। यानी वह अपने-आपमे ही वास करता है। इसलिए जो कुछ भी अभी तक वह करता रहा, उससे पूरा-पूरा सन्तुष्ट होता था। उसका मापदंड भी अपने जगत् का ही था। अभी तक उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी थी। बारह साल की उम्र होने पर, जब कि वह बड़ो की दुनिया के प्रवेश-द्वार पर पहुँचता है, उसका अपना मापदंड काम नही करता। सयानों के जगत् में काम करने के लिए उसे सयानो जैसा होना है, यह बात वह अन्दर से महसूस करता है। इसलिए उसे बचपन की बाते दुहराने मे संकोच होता है।

अभी तक बालक जो कुछ करता था, वह केवल अपने लिए ही। लेकिन जब वह समाज के बारे मे सज्ञान होने लगता है, तब उसे काफी बाते अपने लिए ही न करके समाज के लिए भी करनी पडती है। बाहर के जगत् के बारें मे सज्ञान होने पर उसकी नजर बहिर्मुखी होने लगती है। आज के समाज के स्वरूप के कारण उसके साथ उसकी बचपन की कला-कृतियाँ मेल नही खाती। जब वह कुछ करता है, तो उसकी कोशिश यह होती है कि उसे बडो जैसा ही करे। समाज की साधारण रुचि कला मे वास्तविकता-प्रधान है। इसलिए बच्चा भी उसीके मापदंड से अपने काम को देखता है। अभी तक वह जो कुछ करता आया, अब उसे वह करने में सकोच होता है। यही कारण है कि आम तौर पर बच्चे की कला-प्रवृत्ति आज की हालत मे करीब-करीब बन्द ही हो जाती है।



चौथा अध्याय

# किशोर-अवस्था

"हृदय स्वय अपने लिए कानून है। अगर उसे वन्धन में डालने की कोशिश करोगे, तो उसे खो वैठोगे। उसका स्वातन्त्र्य उसे दो और उसे अपना वना लो।"

—रूसो

वास्तविकता-परिचय-काल के वारे मे चर्चा करते समय हमने लिखा है कि वह वच्चो की कला की समाप्ति की अवस्था है। अगर यह वच्चो की कला के समाप्त होने की अवस्था है, तो फिर किशोर-अवस्था को हमने उसकी चौथी अवस्था क्यो कहा ? उस अवस्था के लिए एक अलग अध्याय क्यो ?

किशोर-अवस्था को कुछ लोग 'सकट-काल' कहते है। अधिकतर कला-शिक्षको का यह अनुभव है कि इस अवस्था के आरम्भ मे कला-प्रवृत्तियो या सर्जन करने की प्रवृत्तियो का जो अन्त होना है, वह सदा के लिए हो जाता है। उनकी मान्यता यह है कि बुद्धि के विकास या और जिस कारण से भी हो, इन प्रवृत्तियो का लोप होना अनिवार्य है।

वच्चो की कला के द्वारा और एक शिक्षक के नाते वच्चो के ज्ञान का मुझे जो अनुभव हुआ, उसकी वुनियाद पर कुछ सिद्धान्त के रूप मे रखना शायद गुस्ताखी होगा, फिर भी उसे पेश करना जरूरी समझता हूँ। हमारी मान्यता यह है कि यह सकट-काल आना ही चाहिए या आयेगा ही, ऐसी वात नही है। इस सकट का कारण हमारी सामाजिक परिस्थिति है। कलात्मक प्रवृत्तियो मे जो रुकावट इस काल मे आती है, यह भी जरूरी नही कि वह आये ही। 'किशोर-अवस्था' व्यक्ति और समाज के लिए

---

लीनो प्रिन्ट (५)—'सियाल कोनवान', लड़का उम्र १४-६।

एक शिक्षा की समस्या है, इसका कारण भी हम खुद ही हैं। प्रकृति को दोप देना प्रकृति को और खुद को न समझना है। दोष हमारी समझ का है। सवसे वडा सत्य तो यह है कि दोप हमारी शिक्षा-पद्धति का है।

रूसो नामक एक शिक्षाशास्त्री और विचारक ने किशोर-अवस्था का वर्णन वड़े अच्छे ढंग से किया है : "कहा जाय तो हम दो वार जन्म लेते हैं, एक वार तो तव, जव कि संसार मे आते है और दूसरी वार तव, जव कि पौरुष ग्रहण करते है।" वे कहते हैं कि "मनुष्य को सदा वालक ही नही रहना है। वह प्रकृति द्वारा नियंत्रित काल मे वाल्यावस्था को छोड़ता है और 'दूसरे जन्म' का समय वड़ा सकटमय होता है।"

"जैसे गरजती हुई लहरे तूफान की अग्रणी होती है, वैसे ही जगती हुई इंद्रिय-वृत्तियो का गुजन इस अव्यवस्थित परिवर्तन की घोपणा करता है। "'शील का परिवर्तन अक्सर क्रोध के उद्भेदन और मानस की चचलता वालक को प्राय. उच्छृंखल वना देते है। वह आज तक जिसकी आज्ञा का पालन करता था, अव उसे अनसुनी कर देता है। वह ज्वर मे सिह की तरह हो जाता है, जो अपने पालक पर अविश्वास करता है और कावू मे आने से इनकार करता है।"

जिस तरह वालक के स्वभाव मे परिवर्तन दीखता है, उसी तरह उसमे शारीरिक परिवर्तन भी दीखने लगते है। "उसका चेहरा विकसित होता है और उस पर उसके चरित्र की छाप आती है। गाल के विरल कोमल रोम काले और कठिन हो जाते है, उसकी आवाज मोटी हो जाती है और कभी-कभी तो विलकुल वैठ ही जाती है। अव न तो वह वालक ही रहता है और न प्रौढ ही; दोनो मे से किसीकी तरह भी वोल नही सकता। आँखे तो आत्मा की इन्द्रियाँ है, जो अभी तक मूक थी, अव वाणी और अर्थ प्राप्त कर लेती है। एक प्रदीप्त प्रकाश उन्हे जाज्वल्यमान कर देता है। उनकी उज्ज्वल दृष्टि मे अभी भी एक पवित्र भोलापन है, किन्तु अव उनका वह पहलेवाला अर्थहीन भाव चला जाता है। वालक जान जाता है कि उसकी इन आँखों से वहुत कुछ कहा जा सकता है। वह आँखें नीची कर झेपने लगता है। वह चलेन्द्रिय होने लगता है, यद्यपि वह नही जानता

कि वह क्या महसूस कर रहा है। उसे वह मालूम न होने के कारण बेढंगा लगता है...।"

रूसो ने इस अवस्था को मनुष्य की सबसे अधिक महत्त्व की अवस्था माना है। हमारे विचार मे अगर इस अवस्था को अभ्युदय-काल कहे, तो ठीक होगा। एक जगह रूसो कहते है कि "किशोर-अवस्था घृणा या प्रतिहिंसा की आयु नही है; वह तो दया, करुणा और उदारता की उम्र है।"

यह विचारक शक्तिशाली भाषा मे कहता है कि वह इस बात पर दृढ है कि यह आयु दया, करुणा आदि की आयु है। उसका कहना है कि ऐसा एक युवा, जिसने अपना भोलापन बीस साल की उम्र तक खोया न हो, इस उम्र मे अपनी उच्चतम अवस्था मे वह उदार होगा, सर्वप्रिय होगा और उसके दिल मे प्रेम होगा। किन्तु यह 'भोलापन' या अच्छापन कैसे खतम हो जाता है? यह प्राकृतिक अवस्था कैसे दूषित हो जाती है?

उन्होने किशोर-अवस्था के परिवर्तन का वर्णन करते हुए कहा है: "यह परिवर्तन धीरे-धीरे क्रमशः होगा और आपको सँभालने का काफी समय देगा। लेकिन अगर उसकी (बालक की) तीव्रता, उसका यह कौतूहल अधीरता बन जाय, उसकी उत्सुकता पागलपन बन जाय, अगर वह एक ही क्षण मे क्रुद्ध और दु खित होने लगे, अगर अकारण रोये, अगर ऐसी वस्तुओ के नजदीक आने से, जो खतरे के कारण हो सकती है, उसकी नाडी तेज चलने लगे, उसकी आँखे चमकने लगे सचेत हो जाओ, नहीं तो सब खो जायगा।"

"किन्तु बाहरी प्रभाव ही इन सब परिवर्तनो (मोडिफिकेशन) का कारण होते है, जिनके बिना इनका उद्‌भव नही हो सकता। ये परिवर्तन हमारे लिए हितकर न होकर कही ज्यादा नुकसानदेह होते है। वे मूल ध्येय को बदलकर उसके विरुद्ध असर करते है।"

"शिक्षक शिकायत करते है कि इस उम्र की शक्ति या उत्साह उनके विद्यार्थियो को अनियन्त्रित बना देता है। मै जानता हूँ कि यह ऐसा ही है, लेकिन क्या इसके जिम्मेवार वे ही खुद नही है?"

रूसो फिर कहते है: "शिक्षा के लिए रुकावट से नही उल्टा किशोर-

अवस्था का यह उत्साह उसका मुकुट है और है उसका सायवान। वह हमारा उस युवा के हृदय के साथ, जो अब हमसे कमजोर नहीं रहा, सम्बन्ध स्थापित करता है।" सूत्र के रूप मे कहते है : "हृदय स्वयं अपने लिए कानून है। अगर उसे बन्धन मे डालने की कोशिश करोगे, तो खो बैठोगे। उसका स्वातंत्र्य उसे दो और उसे अपना बना लो।" रूसो ने किशोर-अवस्था की शिक्षा के प्रश्न पर जो विचार रखे, उनसे यह विश्वास हो जाता है कि समस्या मानकर ही हम उसे सचमुच समस्या बना देते है। इसे अगर हम स्वाभाविक विकास के क्रम में समझने की कोशिश करे, तो इस काल की शक्यता और इसकी संभावनाओ का दर्शन कर सकेगे।

इस चर्चा के दौरान मे मुझे अपने एक बुजुर्ग की बात याद आती है। हमारे स्कूल के दिनों की बात है। हमारे कपड़े पहनने, स्नान करने आदि के सिलसिले मे वे कहा करते . "आजकल के लड़को ने भी कमाल कर दिया। पाँच-छह साल के हुए कि बात-बात मे शरमाना, इधर-उधर के प्रश्न पूछना इनका काम है। हमारे जमाने मे तो हम बीस साल की उमर में भी केवल लँगोटी बाँधकर घूमते थे। शर्म किसे कहते है, जानते भी नही थे।"

यानी जिसे हम किशोर-अवस्था या 'प्यूबर्टी' कहते है, उसके बारे मे लड़के-लडकियाँ इतने सज्ञान नहीं होते थे, जितने आज हो जाते है। रूसो ने कहा : "सुखी अबोध बाल्यावस्था के सारल्य के इस काल को बढाना चाहिए।" मेरे इन बुजुर्ग की वाणी से स्पष्ट है कि यह काल स्वयं ही दीर्घ हुआ करता था। हमारे समाज मे तो इस परिवर्तन को जब वह स्पष्ट होता था, एक उत्सव तक के रूप मे स्वाभाविक तौर पर मनाते थे।

इस विचार के साथ-साथ और एक विचार मन मे आता है। जिस तरह आज के शिक्षा-शास्त्रियों के सामने 'एडोलेसेन्स' और 'प्यूबर्टी' भारी समस्याएँ बनकर खडी है; जिस तरह मनोवैज्ञानिक इस समस्या के बारे मे विचार करते है और जिस तरह विशेषज्ञ इसके हल खोजने के लिए तरह-तरह के प्रयोग करते है, उस तरह यह काल हमारी पुरानी शिक्षा-

पद्धति के लिए समस्या तो क्या, कठिन भी नही था। हमारा यहां तक खयाल है कि तब न तो यह समस्या ही सामने थी और न 'प्यूबर्टी' और 'एडोलेसेन्स' शब्दो का यह अर्थ ही था। शायद इसका एक प्रमाण यह है कि उस अवस्था के लिए हमारी भाषाओ मे कोई विशेष शब्द ही नही है।

इसमें कोई शक नही कि यह समस्या आधुनिक युग का परिणाम है। आदिवासियो के समाज का निरीक्षण करने पर भी यह बिलकुल स्पष्ट पता चल जाता है कि यह समस्या मानव-समाज की प्राकृतिकस्थिति नही है।

मारग्रेट मीड, जिन्होने आदिवासियो के समाज का गहरा अध्ययन किया है, एक जगह लिखती है कि आदिवासियो मे किशोर-अवस्था कोई तनाव की अवस्था नही होती और यह जरूरी नही कि यह उम्र दबाव और खिचाव ( स्ट्रेस एण्ड स्ट्रेन ) का काल हो। किन्तु सामाजिक परिस्थिति ही इसे ऐसा बना देती है। यह तनाव हमारी सस्कृति मे है, न कि व्यक्ति के शारीरिक परिवर्तन मे, जिससे हमारे बालक गुजरते है।

इसका कारण यह है कि हम इस अवस्था को इसके स्वाभाविक रूप मे नही देखते। हमारी भारतीय सभ्यता और आदिवासी सभ्यता मे यह इसलिए समस्या के रूप मे नही आती कि वे उसे समस्या न मानकर एक प्राकृतिक अवस्था मानते रहे। तालीम और जीवन की सभी नीतियो मे स्वाभाविक विकास को ही मुख्य स्थान था। हमारी सस्कृति मे तालीम और समाज के स्वाभाविक जीवन मे पूरा-पूरा सामजस्य था।

आज भी हमारे उन गांवो मे, जो शहरो से दूर है और जहां यातायात के साधन कम पहुँच पाते है, 'प्यूबर्टी' की समस्या उतनी नही दीखती। इसका ऐसा अर्थ नही लगाना चाहिए कि हम यातायात के साधनो को खतम कर दे या हम उनसे किसी तरह विरुद्ध है। लेकिन यह जरूर है कि 'आधुनिक' सभ्यता ही, जो इन यातायात के साधनो के द्वारा फैल रही है, इस समस्या के लिए जिम्मेवार है।

आज की सभ्यता इतनी द्वन्द्वमय है कि उसका हर व्यक्ति बचपन से लेकर बुढापे तक हर समय द्वन्द्वमय जीवन बिताता है। जीवन के किसी

भी पहलू में कोई स्पष्ट वैचारिक और व्यावहारिक सामंजस्य नही है। हम हर क्षण द्वन्द्वात्मक मानसिक अवस्था मे रहते है। यह खण्डित जीवन ही इस युग की सवसे वडी समस्या है। इस तरह की मन.स्थिति सयानो पर चाहे जैसा भी असर डालती हो, कोमल वालक और खास तौर पर किशोर-अवस्था के वालको के मन पर एक स्थायी असर करती है। ऐसी परिस्थिति मे किशोर-अवस्था का 'कौतूहल' 'अधीरता' न वनकर, उसकी 'उत्सुकता' 'पागलपन' में परिणत न होकर क्या हो सकती है? पुराने जमाने के जीवन मे यह द्वन्द्व नही था। विचारो मे, जीवन के ध्येयो और मूल्यों के वारे मे सार्वत्रिक एकमत था। आम तौर पर सामाजिक चाल-चलन के जो नियम होतें थे, उनमे कोई दो अर्थ नही थे।

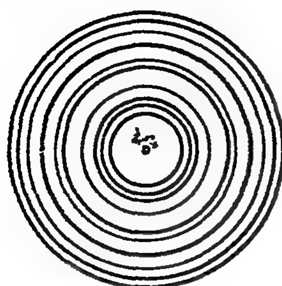
इस ऐक्य का हमारे विचार से तो सवसे वडा कारण यह था कि उस समय का जीवन सरल था। 'सरल' केवल सादगी के अर्थ मे नही, वल्कि समाज का कुल ढाँचा सरल था। आज जो कई कारणों से मानव-समाज में संकुलता आ गयी है, उसके कारण यह सरलता चली गयी। इस सर-लता का मुख्य कारण यह था कि समाज किसी एक केन्द्र के चारो तरफ संगठित था। एक केन्द्र होने के कारण वैचारिक या व्यावहारिक सघर्ष कम-से-कम होने की संभावना थी। वह केन्द्र अलग-अलग सभ्यताओ मे अलग-अलग प्रकार के थे। कही तो केन्द्र था धर्म, कही राजा और कही सामाजिक जीवन की परंपरा। सारा मानसिक और भौतिक जीवन इनके चारो तरफ ही चलता था। यहाँ तक कि ये केन्द्र प्रत्यक्ष भौतिक स्वरूप के भी होते थे। यह कोई नयी वात नही होगी, अगर यह कहा जाय कि गाँव का जीवन वहाँ के मदिर के चारो ओर केन्द्रित था। कुछ पुराने गाँवो और शहरों की वास्तुकला का अध्ययन इस वात का साक्षी है। आज का श्रीरगम् शहर श्रीरगम्-मदिर के चारों तरफ सात घेरो मे वसा है। यह शहर अपने समय मे पूरा संगठित रहा होगा। इसका हर व्यक्ति जानता होगा कि कहाँ कैसा व्यवहार करना, कैसा जीवन विताना। उसे यह स्पप्ट मालूम होगा कि कैसा व्यवहार करने से समाज मे उसकी कैसी प्रतिक्रिया होगी। उसकी जीवन-यात्रा, उसकी आकांक्षाएँ क्या

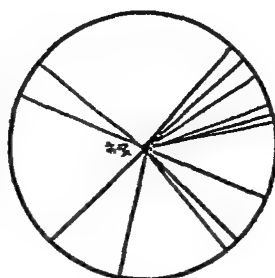
होनी चाहिए, यह वह भी जानता था और समाज भी। उनके लिए पूरा-पूरा इन्तजाम भी था। इसका मतलब यह नही कि जीवन साँचे मे ढला हुआ था। लेकिन यह निश्चय है कि जीवन का आदर्श निश्चित ढग का था। समाज का हर व्यक्ति समाज का अंग था। ये बातें केवल उदाहरण के लिए नही कही गयी। वे उन समय के जीवन के बारे मे आम तौर पर लागू होती है।

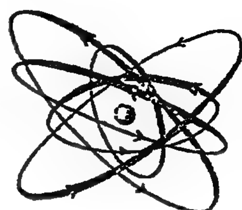
हमारे समाज की यह जटिलता भी इतिहास का ही अग है। विज्ञान के विकास और नये-नये विचारो आदि ने आधुनिक सस्कृति को संकुलित कर दिया है। विचारो की भीड के कारण व्यक्ति के दिमाग को अलग-अलग तरह के, अलग-अलग दिशाओ मे जानेवाले रास्तो ने घेर लिया है। पहले जिन्दगी के हर पहलू की यात्रा एक केन्द्र की तरफ ध्यान रखकर होती थी, पर आज मनुष्य के जीवन के अलग-अलग पहलुओ ने अपनी-अपनी दिशाएँ बदल दी है। वे अनेक केन्द्रो के चारो तरफ होकर पागल की तरह चक्कर लगा रहे है। जिस ज्ञान-पिपासा के पीछे ब्रह्मप्राप्ति ही एक-मात्र प्रेरणा थी, वह ज्ञान-पिपासा आज अर्थ-लालसा, प्रतिष्ठा, युद्ध-शास्त्र, विशाल पैमाने पर हत्याएँ करने आदि का साधन बन गयी है। जो कलाकार एक समय 'योगी' कहलाया जाता था, आज वह योग साधना छोडकर बाकी सब कुछ करता है। इसी तरह हमारे जीवन का शायद ही कोई ऐसा हिस्सा बचा हो, जो इस कुरूपता से दूर रह गया हो। यह बुद्धि-भ्रम आज की जीवन परिस्थिति के राग की श्रुति बन गया है। यह 'अधीरता', 'अविश्वास' और 'पागलपन' उसी तरह का है, जो बालक पर किशोर-अवस्था मे छा जाता है। आज यह केवल व्यक्ति पर न छाकर समाज पर छा गया है। सारा समाज किशोर-अवस्था के सकट-काल मे आ पडा है, जिसके कारण अधिकतर व्यक्ति बडी उम्र तक पहुँचने पर भी किशोर-अवस्था पार नही कर पाते।

पहले के समाज का ढाँचा और आज के समाज का ढाँचा, दोनो बिलकुल अलग-अलग प्रकार के है। पहला सरल नमूने पर बना था और आज का बदलकर एकदम जटिल हो गया है। दोनो की तुलना गणित

के कुछ आकारों के साथ करने से शायद हमारा विचार कुछ शब्दों में ही स्पष्ट हो जायगा।


क


ख


ग

एक वृत्त है, जिसमें केवल एक ही केन्द्र है। जो भी सरल रेखाएँ उसकी परिधि से चलकर केन्द्र तक पहुँचती है, एक-दूसरे के साथ सघर्ष मे नही आती या जो अगण्य रेखाएँ इस केन्द्र के चारों तरफ वनती है, एक-दूसरे के समानान्तर घूमती है। उनका भी आपस मे कोई घर्षण नही होता, क्योंकि हर रेखा एक केन्द्र द्वारा वँधी है। हरएक का अपना पथ और व्यवहार स्वच्छ है। ( आकृति, क और ख )

दूसरा एक और आकार देखिये। आजकल परमाणु ( आकृति, ग ) के आकार के चित्र सवने देखे होगे। परमाणु का आकार निश्चित होता है। उसका एक मुख्य केन्द्र न्यष्टि ( न्यूक्लिअस ) होता है, जिसका वैद्युत प्रभार घन होता है। इस न्यष्टि के चारों ओर एक या अनेक निश्चित कक्षाओ ( आरविट्स ) मे अनेक विद्युदणु ( इलेक्ट्रोन्स ) अत्यन्त तेज गति से चक्कर लगाते रहते है। इन सूक्ष्म ग्रहों का विभ्रमण केन्द्र या न्यष्टि से सचालित होता है। केन्द्र की सधि भंग हुई कि परमाणु के नियमित विभ्रमण मे वाधा आकर परमाणु का स्वरूप ही खण्डित हो जाता है।

हमारा आज का समाज भी उस अणु के समान है, जिसके विभ्रमण की संधि भंग हो गयी है। उसके अन्दर सव कुछ अस्त-व्यस्त हो गया है। चूँकि मानव-समाज की इकाई मनुष्य है, इसलिए इस संधिभंग के वावजूद वह अभी तक टिकी है, वह विलकुल तहस-नहस नही हो गयी है। मनुष्य के चेतन ने उसे जिन्दा वनाये रखा है।

आज का हर छोटा-बड़ा विचारक इसी कोशिश में है कि इस 'संधि-भंग' की किस तरह पुनरचना की जाय। जिस तरह सरल वृत्ताकार केन्द्र की रेखाएँ केन्द्र द्वारा सगठित होती है और जिस तरह विग्रह मे जो चलन होती है, उनका सगठन कुछ केन्द्रो द्वारा होता है, उसी तरह आज के समाज को भी ऐसे केन्द्र की जरूरत है, जिसके चारो ओर समाज का जीवन केन्द्रित हो सके। यत्र-गति-शास्त्र के अनुसार चलन और गति-निर्धारण करने के लिए किसी केन्द्रीय खिचाव की जरूरत होती है। यह एक सर्वंगत नियम है और इसलिए यह समाज के सगठन मे भी लागू होना चाहिए।

आज शिक्षा-शास्त्र के सामने यही सबसे बडी समस्या है। ऐतिहासिक दृष्टिवाले यह कहते है कि अगर हम समाज को वही पहलेवाला सरल रूप देना चाहे, तो बिलकुल असफल होगे। हाँ, अगर आज की सभ्यता का अपना चरित्र समझते हुए उसे पुनसगठित करने की कोशिश करेंगे, तो सफलता प्राप्त करने की अवश्य सभावना है।

व्यक्ति की सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ उसके पूरे व्यक्तित्व से कदापि अलग नही होती। लेकिन चूंकि हमारी इस चर्चा का विषय खासकर बालक की कला-प्रवृत्तियाँ है, इसलिए हमे किशोर-अवस्था की इस विशाल समस्या पर और अधिक स्थान न लेकर अपने विषय पर लौट आना ठीक होगा।

हमारा विषय है किशोर-अवस्था मे कला-अनुभव। मेरी और बहुत से साथी शिक्षको की यह राय है कि कला-प्रवृत्तियो का लोप हो जाना केवल सामाजिक परिस्थिति के कारण होता है। अगर समाज की परिस्थिति अनुकूल हो, तो बाल्यावस्था मे जिस तरह बालक को कला-प्रवृत्तियों मे रुचि होती है, उसी तरह वह किशोरावस्था मे और उसके बाद भी रहेगी। हाँ, उसका स्वरूप अलबत्ता अलग होगा।

क्या यह जरूरी है कि प्राइमरी शिक्षा के बाद की शिक्षा मे भी कला-शिक्षा को उतना ही स्थान दिया जाय? अगर बाल्यावस्था के बाद कला-शिक्षा से अड़चन होती है, तो उसे क्यो न छोड दिया जाय?

इसमे कोई शक नही कि किशोर-अवस्था प्रारम्भ होने के या तो इधर या उधर पहुँचकर वाल्य-कला समाप्त हो जाती है। उसके वाद जो कला किशोर निर्मित करता है, वह वच्चो की कला न रहकर पूरी-पूरी सयानों की कला हो जाती है। कुछ लोगो की यह कोशिश होती है कि वच्चों की कला उनका वचपन चले जाने के वाद सयानो की कला हो जानी चाहिए। सिज़ेक ने इसके वारे मे कहा है: "लोग गलत सोचते है कि वच्चों की कला सयानों की कला का पहला कदम है। यह खुद मे एक निराली वस्तु है। औरो से अलग और विच्छिन्न, वह अपने ही नियमो पर चलती है, सयानों के नियमो पर नही। एक वार इसका प्रस्फुटित होने का काल समाप्त हुआ, तो फिर कभी वापस नही आयेगा।"

इसलिए अव हम 'वच्चों की कला' के समय को वढाने की वात नही कर सकते। लेकिन जो कला-अनुभव वाल्यावस्था में वालक के जीवन को प्रफुल्लित करते आये और जिन कला-अनुभवो का दावा यह रहा कि वे पर्ण व्यक्तित्व का विकास करने मे मदद करते है, वे कला-अनुभव क्या १२-१३ साल की उम्र के वाद निकम्मे सावित होंगे? जो परम्परा उन अनुभवों ने व्यक्ति के जीवन के प्रारभिक काल मे तैयार की है, क्या अव उसका कोई उद्देश्य नही रहा?

सिज़ेक ने कहा है: "वच्चों की कला का मुख्य उद्देश्य यह है कि वह वालक की सृजनात्मक शक्ति का विकास करे और वालक के पूरे जीवन-काल तक असर करती रहे।"

वच्चों की कला अगर ठीक तरीके की हुई, तो जैसा कि सिज़ेक ने कहा है, उसका असर हमेशा के लिए रहेगा। सृजनात्मक शक्ति का जो विकास होता है, वह तभी कारगर होगा, जव कि इन सृजनात्मक प्रवृत्तियो को वाल्यावस्था के वाद भी चालू रखा जाय। सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ केवल वाल्यावस्था मे ही रहती है, ऐसा नही; प्रौढ़ावस्था मे जाकर उनका स्वरूप अलग तरह का हो जाता है। उनका उद्देश्य भी वदलता जाता है। यह भी कह सकते है कि जो अभी तक कला-क्रीड़ा थी, अव वह प्रवृत्ति साधना वन जाती है।

आम तौर पर मानते है कि जब भाषा पर कुछ अधिकार आ जाता है, तो वही आत्म-प्रकटन की सबसे मुख्य साधन बन जाती है। शिक्षा-प्रणाली की गलती के कारण शायद यह मान लिया जाता है कि जब भाषा से आत्म-प्रकटन होना शुरू हो गया, तब वह कला-प्रवृत्तियों द्वारा होनेवाले आत्म-प्रकटन की जगह ले लेती है और चूंकि 'आत्म-प्रकटन' हो ही रहा है, तो फिर कला-प्रवृत्तियाँ, जिनका लोप हो चुका है, उनको चालू रखने की क्या जरूरत? इतना ही नही, चूंकि आत्म-प्रकटन का शिक्षा में अभी कोई महत्त्वपर्ण स्थान ही नही है, तो उसके बारे में और आगे विचार ही नही किया जाता।

आत्म-प्रकटन या और ठीक शब्दों में कहा जाय, तो 'अपने भावो को दूसरो तक पहुँचाने के लिए' जितने भी माध्यम मनुष्य ने ईजाद किये है, वे एक-दूसरे का स्थान नही ले सकते। बल्कि वे अलग-अलग प्रकार के विचारो और भावो को उपयुक्त माध्यम द्वारा प्रकाश करने के जरिये हैं। जिस विचार के लिए भाषा काम नही दे सकती और जिस भाव के लिए कविता का माध्यम उपयुक्त है, उसे चाक्षुप आकारो के द्वारा प्रकट नही किया जा सकता। इसी तरह जिन भावो का प्रकटन नृत्य-कला के द्वारा किया जाता है, वे भाव कर्णेन्द्रियो के द्वारा अनुभव करने के रूप मे प्रस्तुत नही किये जा सकते।

इसलिए अगर इस समय यानी किशोर-अवस्था के समय शब्दो की भाषा आ जाती है, तो कोई कारण नही कि आकार की भाषा को छोड़ दिया जाय। यह कहना कि बालक खुद ही कला-प्रवृत्तियो मे रुचि लेना बन्द कर देता है, उचित नही होगा। चूंकि शिक्षा-तन्त्र ने और पाठशाला के साधारण वातावरण मे इन प्रवृत्तियो के लिए कोई स्थान आग्रह नही है और न उन्हे शिक्षा का अग ही माना जाता है, इसीलिए यह अपने-आप ही छूट जाती है।

होना तो यह चाहिए कि भाषा आने के बाद बालक का आत्म-प्रकटन का तरीका और भी समृद्ध हो। पहले उनके पास केवल आकार की ही भाषा थी और अब दूसरी भाषा भी आ जाती है। यानी उनके

पास भाव और विचार दोनो को दूसरो के पास पहुँचाने के एक से अधिक माध्यमों पर कावू आ जाता है। सिज़ेक ने कहा है: "इसका कोई कारण नही कि इससे सृजनात्मक शक्ति का लोप हो जाय, वल्कि इससे तो उस शक्ति को मदद ही मिलनी चाहिए।"

इन दो प्रकार के माध्यमो के अनुभवों के वारे मे शिक्षक फ़ायवेल ने अपनी 'एज्यूकेशन फॉर मैन' नाम की पुस्तक में लिखा है: "मनुष्य भाषा द्वारा केवल विचार को ही प्रकट कर पाता है। उससे उसके पूरे व्यक्तित्व का प्रकटन नही होता। वह अपने अन्तरमानव को वाहर प्रकट नही कर पाता। कला-प्रवृत्तियाँ और भाषा दोनों मिलकर ही मनुष्य को पूरी प्रकृति का दर्शन कराती है।"

उसमे खास तौर पर चित्रकला के वारे मे वे कहते है: "उसका लाभ कवल यह नही कि वालक वाहरी जगत् का ठीक तरह से प्रतिवोधन कर सके। यह कला वालक को ऐसे जगत् मे प्रवेश करने मे मदद करती है, जो ऊपरी तौर पर अदृश्य है, किन्तु जिसमे ज्ञान-सचार करने की शक्ति है।"

यह आन्तरिक जीवन, अदृश्य जगत् का ज्ञान, जिसका जिक्र फ्रायवेल करते है, वह क्या है और उसके साथ तालीम का क्या सम्वन्ध है, इसकी अव हम थोड़ी चर्चा करे।

उसी पुस्तक में वे एक जगह कहते है: " 'शव्द' और 'चित्र' ( दोनों को स्पष्ट तौर पर अलग करने के लिए मैने कामा लगाये ) स्वप्रकृति से एक-दूसरे से विलकुल भिन्न हैं। क्योकि 'चित्र' मृत है, जव कि 'शव्द' जीवन्त। 'चित्र' दृष्टिगोचर है और 'शव्द' कर्णगोचर। इसलिए शव्द और चित्र साथी है, जो अलग नही किये जा सकते; जैसे प्रकाश और छाया, दिन और रात, आत्मा और शरीर, जो एक ही चीज के दो सिरे है। इसलिए चित्रांकन की शक्ति वालक में वैसी ही स्वाभाविक है, जैसी वाक्य-शक्ति। वह उतना ही विकास और प्रोत्साहन चाहती है, जितना वाक्य-शक्ति। जिस तरह प्रकाश और छाया को अलग नही कर सकते, उसी तरह चित्रांकन और वाणी की शक्ति को एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता।"

आज तक जिस तरह की शिक्षा आम स्कूलो मे दी जाती है, उसमे पूरा ध्यान बुद्धि के विकास पर ही दिया जाता है; क्योकि बुद्धिजीवी व्यक्ति समाज मे अधिक प्रतिष्ठावान् माना जाता है। इसलिए शिक्षा-प्रणाली का प्रयत्न भी अधिक बुद्धिजीवी व्यक्ति निर्माण करने का हो गया है। बालक ज्यो ही अक्षर-ज्ञान पा लेता है, त्यो ही उसकी शिक्षा की दिशा अधिक 'ज्ञान-प्राप्ति' ('ज्ञान' शब्द का यहाँ अर्थ केवल जानकारी मे है) की तरफ चली जाती है। इस तरह की ज्ञान-प्राप्ति का सबसे उपयोगी साधन भाषा हो गयी है। यह एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा सारे जगत् का 'ज्ञान' पुस्तको मे एकत्रित करके रखा जा सकता है और इसलिए पुस्तकीय शिक्षा ही सबसे अधिक प्रतिष्ठावान् बन गयी है। इस तरह के व्यापारी दृष्टिवाले समाज मे केवल बुद्धिवाद की ही स्पर्धा हो सकती है। जो अधिक 'बुद्धिमान्' होगा, वही समाज के ऊँचे स्तर पर बैठ सकेगा। यही कारण है कि आज का किसान या कारीगर, जो सच्ची दृष्टि मे इस शिक्षित व्यक्ति से अधिक सपूर्ण तालीम पाये हुए है, नही चाहता कि उसके बच्चे भी उसीकी तरह कारीगरी और किसान-काम मे शिक्षा पाये और समाज के 'नीचेवाले' स्तर मे पडे-पडे सडते रहे। वह भी यही चाहता है कि उसके बच्चे भी किताबी तालीम पाये और समाज मे 'शिक्षित' कहलाये। उसे यह नही मालूम कि जो किताबी तालीम चल रही है, वह व्यक्ति का कितना एकतरफा विकास कर रही है। उसे यह नही मालूम कि यही एकतरफा विकास है, जो आज मनुष्य मे और इसलिए पूरे समाज मे द्वेष, दबाव और तनाव के वातावरण के लिए जिम्मेवार है।

मनुष्य बाहरी ज्ञान के पीछे जितना बढता जाता है, उतना ही अन्तर्मानव से सम्बन्ध तोडता जाता है। यहा तक हुआ है कि वर्तमान तालीम मे अन्तर्मानव के साथ सबध की बात तो दूर रही, उसका जिक्र भी नही किया जाता। अगर इस तरह की कोई बात उठती भी है, तो उसे गैर-जरूरी और निरर्थक मानकर छोड दिया जाता है। शिक्षित व्यक्ति उसका मजाक उडाते है। कहते है: "पिछड़े हुए विचार नही चाहिए।

आधुनिक विज्ञान सबसे ऊँचे स्तर की चीज है और जीवन में आज उसीकी सबसे अधिक जरूरत है।"

आज जो 'आधुनिक विज्ञान' और बाहरी ज्ञान है, उसका अधिक संबंध मानस के चेतन भाग से होता है। केवल सचेत मानस को ही उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। वैज्ञानिकों के अनुसार 'मानस' का यह हिस्सा उसका बिलकुल छोटा भाग है। वे कहते हैं कि मानस पानी मे तैरते हुए उस हिम-पर्वत की तरह है, जिसका केवल एक दशांक ही पानी से बाहर रहता है, बाकी पानी के अन्दर। देखने पर केवल बाहरवाले हिस्से का आकार ही जाना जा सकता है। पानी के अन्दरवाला भाग, जो पूरे हिम-पर्वत का अधिकांश है, कैसा है, नही कहा जा सकता। इसी तरह मानस का अचेतन भाग है, जिसके बारे मे अभी तक बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है।

आज की तालीम में मानस का यह विशाल भाग पूरा-पूरा अछूता ही रह जाता है। किन्तु मानव-स्वभाव यह है कि हमारा अधिकतर जीवन भी इस अछूते रह गये हिस्से द्वारा ही संचालित होता है। यही स्वाभाविक है, क्योकि मानस का प्रधान और अधिक भाग भी यही हिस्सा होता है। जिस तरह सचेत मानस का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक होता है, उसी तरह अचेत मानस का भावनाओं से होता है। आदमी की भावनाओं और वृत्तियो का जीवन मे बड़ा महत्त्व है। उन्हें स्थान न देने से काम नही चल सकता। अचेत मानस की जीवन मे उपेक्षा करने से जीवन का काफी भाग अधूरा या दबा रह जाता है। यह अधूरा जीवन ही व्यक्ति मे कई तरह की संकरता का कारण हो जाता है। इसलिए जब तक इस दबे हुए जीवन की संतृप्ति के लिए योजना नही बनेगी, तब तक मानव-समाज की अधिकतर समस्याओ का हल नही हो सकेगा।

इस आन्तरिक जीवन को जीने के लिए सबसे जरूरी है कि 'सचेत मानस' इसके साथ सम्बन्ध स्थापित करे। यह सम्बन्ध शिक्षा का मुख्य विषय होना चाहिए।

एक समय था, जब कि आम व्यक्ति के लिए यह सम्बन्ध इस अर्थ में

स्थापित करना जरूरी नही था। वह विश्वास या श्रद्धा का युग था। जीवन के मूल व्यवहार और विश्वास मान लिये गये थे। जीवन के उच्चतम स्तर के लिए ये जरूरी माने जाते थे। ये ही विश्वास, जिनके बारे मे कोई प्रश्न या शका नही हो सकती थी, साधारण मनुष्य को 'ठीक रास्ते' पर रखते थे। आदमी का यह विश्वास और श्रद्धा उसकी भावनाओ को दबाने का काम करती थी। वर्तमान युग मे इस तरीके को इस्तेमाल करने की सिफारिश करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए कुछ अधिक हो जायगा।

भारतीय दर्शन-शास्त्र मे इस समस्या का हल योगाभ्यास से सुझाया गया है। योग-साधना का विचार एकाग्रता द्वारा अन्तरात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने और एकत्व प्राप्त करने का है। सचेत मानस एकाग्रता द्वारा उस अज्ञात (अननोन) को जान ले; यह योग का ध्येय है। योगाभ्यास द्वारा मानव विश्वात्मा (पूर्ण ज्ञान), जिसमे सचेत और अचेत दोनो है, के साथ एक हो जाय—वह उसका एक हिस्सा हो जाय, ये सब विचार योग-शास्त्र के पीछे है। यह केवल जीवन को पूरी तरह से जीने के लिए नही है, बल्कि उसे सचेत मानस द्वारा नियत्रण करने के लिए है। पतजलि के योगशास्त्र का दूसरा सूत्र ही है: 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोध'। इसमे कोई शका नही कि यही आखिर में सबसे ऊँचा विचार है। 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' इस स्थिति को पाना हमारी सस्कृति का ऊँचे-से-ऊँचा आदर्श है। श्रद्धा और विश्वास के द्वारा वृत्तियो को दबाने की प्रक्रिया होती है और योगाभ्यास के द्वारा उनका नियत्रण और नियमन। मेरे लिए यह कहना भी कठिन है कि केवल इसी तरीके को शिक्षा का मुख्य अग बनाया जाय। मनुष्य-स्वभाव अलग-अलग प्रकार के होते है। चाहे जमाना कितना ही बदल जाय, चाहे दुनिया मे 'आधुनिकता' चरम सीमा तक पहुँच जाय, कुछ-न-कुछ इस स्वभाव के व्यक्ति होगे ही, जो ऊपर कहे गये दो रास्तो पर चलनेवाले होगे।

१२८१

## शिक्षा की वुनियाद कला हो

हम पाठकों का ध्यान एक और नये तरीके की तरफ खीचना चाहते है। यह कोई नया विचार नही है। विशेषत. भारतीय संस्कृति मे वह सैकड़ों साल पहले स्थान पा चुका है। इसमे न तो वृत्तियो को 'दवानें' और न 'नियत्रण' करने की वात है। वह कला का रास्ता है, जिसमे वृत्तियो को उच्छ्रित करने, ऊँचा उठाने की प्रक्रिया होती है। श्री कुमारस्वामी नें भारतीय सस्कृति के वारे मे चर्चा करते समय 'डान्स ऑफ् शिव' पुस्तक मे कहा है कि "कलाकार योगी होता है और उसके योगाभ्यास की पद्धति उसके चित्र-विषय के साथ ऐकात्म्य अनुभव करने की होती है। भारतीय संस्कृति के अनुसार कलाकार योगी माना गया है।"

कलाकार का पथ अगर योग-साधना ही है, तो यह देखना है कि इसमे आम तालीम का एक अग वनने की शक्ति कहाँ तक है?

वाल्यावस्था के वाद किशोरावस्था मे भी कला-प्रवृत्तियो की उतनी ही जरूरत है, जितनी भाषा और विज्ञान आदि की, इसकी चर्चा हम विस्तार से कर चुके है। हमने यह भी कहा है कि कला-प्रवृत्तियाँ केवल जरूरी ही नही, वल्कि मानव-प्रवृत्ति की अविच्छिन्न अग हैं। प्रवृत्तियाँ विचार को दूसरों तक पहुँचाने के अलग-अलग माध्यम है।

अगर कला-प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक और जरूरी है और कला-साधना मनुष्य को 'चित्तवृत्ति-निरोध' मे सहायता करती है, तो यह वात निश्चित हो जाती है कि वाल्यावस्था के वाद भी इन प्रवृत्तियो को शिक्षा-क्रम का जरूरी अंग वनाना चाहिए। हम यही कहना चाहते हैं कि कला-प्रवृत्तियाँ शिक्षा में केवल जरूरी स्थान ही न पाये, वल्कि शिक्षा की वुनियाद ही कला होनी चाहिए। आज जव कि हम मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा का ढाँचा तैयार करना चाहते है, जव कि हम व्यक्ति को सच्ची सामाजिक दृष्टि देना चाहते हैं और 'दवाव और तनाव' निकाल देना चाहते है, तो तालीम का ढाँचा भी ऐसा होना चाहिए, जो हर व्यक्ति को इस प्रकार तैयार करे, जिससे

उसके आन्तरिक जीवन मे तृप्ति का बोध हो और उसका अपनी अन्तःप्रकृति के साथ और इसीलिए विश्व-प्रकृति के साथ ऐकात्म्य हो।

आधुनिक शिक्षा का नतीजा हमने देख लिया। हमने उस शिक्षा का नतीजा भी देख लिया, जिसमे 'विकसित विज्ञान' को सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसके कारण व्यक्ति को कही भी या कितना भी मिलने के बावजूद तृप्ति नही होती। इसका कारण यही है कि शिक्षा के स्वाभाविक और आवश्यक अगो को छोड़कर हमने ऐसे विषयो पर अधिक ध्यान दिया, जो मनुष्य का एकतरफा विकास करते है, जिनके कारण व्यक्तित्व का बडे-से-बडा भाग अतृप्त रह जाता है। बाल्यावस्था मे भी कला-शिक्षा को अभी तक उचित स्थान नही मिला है। जहाँ मिलता भी है, वहाँ बच्चा ग्यारह-बारह वर्ष का होते ही उसके शिक्षा-क्रम मे से कला-प्रवृत्तियो को निकाल दिया जाता है। ऐसा ही हर्बर्ट रीड ने कहा है :

"हमारा अनुभव हमे बताता है कि हर व्यक्ति ग्यारह साल की उम्र के बाद, किशोर-अवस्था और उसके बाद भी सारे जीवन-काल तक किसी-न-किसी कला-प्रवृत्ति को अपने भाव-प्रकटन का जरिया बनाये रख सकता है। आज के सभी विषय—जिन पर हम अपनी एकमात्र श्रद्धा करते है, जैसे गणित, भूगोल, इतिहास, रसायनशास्त्र और यहाँ तक कि साहित्य भी—जिस तरह पढाये जाते है, उन सबकी बुनियाद तार्किक है। इन पर एकमात्र जोर देने के कारण कला-प्रवृत्तियाँ, जो भावना-प्रधान होती है, पाठ्यक्रम से करीब-करीब निकल जाती है। ये प्रवृत्तियाँ केवल पाठ्यक्रम से ही नही निकल जाती, बल्कि इन तार्किक विषयों को महत्त्व देने के कारण व्यक्ति के दिमाग मे भी बिलकुल निकल जाती है। किशोर-अवस्था को इस तरह गलत रास्ते पर ले जाने का नतीजा भयानक हो रहा है। सभ्यता रोज-ब-रोज बेढब होती जा रही है। व्यक्ति का गलत विकास हो रहा है। उसका मानस अस्वस्थ है, परिवार दु:खी है। समाज समाज मे फूट पडी है और दुनिया पर युद्ध करने का ज्वर चढा है। इन भयानक अवस्थाओ को हमारा ज्ञान-विज्ञान

सहारा दे रहा है। आज की तालीम भी इसी दौड़ में साथ दे रही है। किन्तु कला की प्रवृत्तियाँ, जो हमारे जीवन को सुन्दर और सुसमंजस बना सकती है, जो मन के घावों को भर सकती है, जो मनुष्य का प्रकृति के साथ मिलन करा सकती है और जो राष्ट्र के साथ राष्ट्र का बन्धुत्व कायम कर सकती है, उन्हें हम फिजूल और निरर्थक कहकर टाल देते है।"



गीत 'आरतोलन'
लड़की, उम्र १४




६८ 'कृष्ण भगवान' लड़की, उम्र १२-६



पाँचवाँ अध्याय

# किशोर-अवस्था में कला-शिक्षा

"समग्र और सार्वभौम सौन्दर्य-बोध और अपने सम्पूर्ण जीवन को पूरा-पूरा सुन्दर बनाना, यह एक सम्पूर्ण व्यक्ति और आदर्श समाज का आवश्यक चरित्र होना ही चाहिए।"

—श्री अरविन्द

हमने 'किशोर-अवस्था' वाले अध्याय मे कहा है कि तालीम के ढाँचे की बुनियाद कलात्मक प्रवृत्तियाँ होनी चाहिए। हमे किशोर-अवस्था मे भी कला की ओर वही दृष्टि रखनी पड़ेगी, जो बाल्यावस्था मे रखी जाय। हमे इस विचार की मुखालिफत करनी पड़ेगी कि बाल्यावस्था के बाद सृजनात्मक शक्ति का लोप हो जाना स्वाभाविक है और वर्तमान तालीम मे ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पड़ेंगे, जिनके द्वारा तार्किक प्रवृत्तियाँ ( लॉजिकल ऐक्टिविटीज ) अपने उचित स्थान पर रखी जायँ और उनके द्वारा व्यक्ति की समन्वित जिंदगी मे फूट न पड़े और उन प्रवृत्तियो का लोप न हो, जो व्यक्ति और उसके वातावरण को सुन्दर बनाती है और जिनके द्वारा पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है। बाल्यावस्था मे जिस तरह कला-शिक्षा का क्रम बालक के स्वाभाविक कला-विकास के अनुसार चलना चाहिए, उसी तरह उसके बाद भी उसी छद मे कला-शिक्षा का कार्यक्रम बनना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि किशोर-अवस्था और उसके बाद की अवस्था मे भी कला का

---

लीनो प्रिण्ट ( ६ )—'हरिन', लड़का, उम्र १२-६।

स्वरूप वाल्यावस्था की तरह ही होगा। उम्र के हिसाव से जीवन-मूल्य वदलते रहते हैं। इसी तरह व्यक्ति की कला की ओर दृष्टि भी वदलती हैं। वाल्यावस्था के वाद कला-प्रवृत्तियो की ओर दृष्टि और शिक्षा में उनका स्वरूप तो वदलेगा, किन्तु वाल्यावस्था और किशोर-अवस्था के वीच में कोई ऐसा विच्छेद नही होना चाहिए, जिससे वालक और शिक्षक दोनों को ऐसा प्रतीत हो कि यह 'विषय' शिक्षाक्रम में विलकुल नये ढंग से, नये चोगे में आ रहा है। शिक्षा-व्यवस्था ऐसी हो कि एक अवस्था की शिक्षा दूसरी अवस्था की शिक्षा मे विना किसी विच्छेद के परिणत हो जाय। इसी तरह कला-शिक्षा की भी वात है। कला-शिक्षाक्रम की यह चेष्टा होनी चाहिए कि एक उम्र की कवि-कल्पना अगली उम्र की कवि-कल्पना मे अनजाने ही सलीन हो जाय।

किशोर-अवस्था के वाद शिक्षा की क्या पद्धति होनी चाहिए, इसकी विस्तृत चर्चा करना हमारा विषय नही है। किन्तु इस अवस्था की समस्या पर और कला-शिक्षा के आम स्वरूप पर विचार करने के लिए यहाँ कुछ चर्चा करेंगे। जो कुछ हमने पिछले अध्याय मे कहा है, उसे और थोड़ा स्पष्ट करने के लिए इस अवस्था की कला-शिक्षा के ढाँचे के वारे से एकआध वात पर और विचार करेंगे।

जिन शालाओं मे इस उम्र मे कला-शिक्षा को स्थान है और आम तौर पर जो शिक्षा-क्रम वनता है, उसमे कला-शिक्षा का अक्सर जो तरीका होता है, उससे 'कला-वोघ' विकसित न होकर उसका अत ही हो जाता है। उस तरीके के अनुसार कला के व्यावहारिक पहलू पर अधिक जोर दिया जाता है। उसका ध्येय यह होता है कि विद्यार्थी की निरीक्षण-शक्ति का विकास हो और याददाश्त ( स्मृति-शक्ति ) वढाने के लिए मदद मिले तथा देखकर ठीक-ठीक चित्र वनाने का अभ्यास हो। इसके लिए शिक्षा-क्रम का मुख्य अंग परिप्रेक्षण ( पर्सपेक्टिव ) के सिद्धान्त होते है। इसमे कोई शक नही कि यह आम शिक्षा का वडा जरूरी हिस्सा होता है, जिसकी जरूरत दूसरे विपयो को और उद्योगों को ठीक तरह से सीखने और अच्छी तरह करने के लिए है। वढ़ई-काम,

इजीनियरिंग, वनस्पति-शास्त्र आदि हर विषय के लिए व्यावहारिक ड्रॉइंग का अभ्यास आवश्यक है। किन्तु कला का यह पहलू स्वयमेव मानस की उस सतह को कुछ विशेष स्पर्श नही करता, जिसकी चर्चा हमने पिछले अध्याय मे की है। यानी कला के समूचन ( कम्यूनिकेशन ) वाले पहलू से यह बहुत हद तक अलग है। हालाँकि कला की इस शाखा की भी उतनी ही जरूरत है, जितनी कि आत्म-प्रकटनवाली की, किन्तु यह सोचना कि इसीके विकास करने मात्र से कला-शिक्षा हो गयी, कला-शिक्षा के ध्येय को गलत स्वरूप देना होगा। जहाँ कला-शिक्षा केवल इसी पहलू तक सीमित रहती है, वहाँ उसके द्वारा कला-बोध की हानि ही होती है। कला मे परिप्रेक्षण वास्तविकता-वाद लाता है। उसका नतीजा गलत कला-बोध होता है, क्योकि उससे उचित प्रकार की कला-दृष्टि के बदले वास्तविकता-वाद ( नैच्युरलिज्म ) को अधिक मूल्य मिलता है।

दूसरे पहलू के बारे मे एक विचार करना जरूरी है। हफ्ते मे दो या तीन, अधिक-से-अधिक 'डबल पीरियड' मजूर करने से जिन नतीजो की हम आशा करते है, क्या वे मिल पायेगे? नही, उनके लिए हमें कुल तालीम की दृष्टि को कलामय करना पडेगा। आत्म-प्रकटन कहकर विशेष समय तो रखना ही पडेगा, किन्तु शिक्षा की हर प्रवृत्ति के पीछे भी वही विचार रखना होगा शिक्षा का माध्यम कला-प्रवृत्तियां होनी चाहिए। आज मानसिक विकास के लिए गणित, विज्ञान आदि को जो महत्त्व दिया जाता है, उस विचार को छोडकर हमारी दृष्टि से महत्त्व ऐसी कला-प्रवृत्तियो को देना होगा, जो व्यक्ति का एक-तरफा विकास न करके पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करती है। ये 'बौद्धिक विषय' इन प्रवृत्तियो को बारीक और वैज्ञानिक रूप देते हैं। कला-प्रवृत्तियो का जिक्र करते समय यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि इनमें जैसा कि आम तौर पर माना जाता है, ललित-कलाएं ही आती है, ऐसी बात नही। हम इसमें ललित-कलाएं और उपयोगी कलाएं दोनो को समान स्थान देते है। कला के इस तरह दो विभाग कर देना गलत है। हर चीज को बनाने मे, चाहे वह चित्र हो या कपडे, बुनियादी तौर पर

सृजनात्मक शक्ति का उपयोग होता है। दोनों ही चीजों को बनानेवाला कलाकार होता है (आज अगर नही होता तो होना चाहिए)।

जिन विषयो को अभी तक अधिक महत्त्व था, उनका उद्देश्य सृजनात्मक प्रवृत्तियों को मदद करना होना चाहिए और उन्हे पूरे तौर पर उनके साथ समन्वित होकर चलना चाहिए। यह जरूर हो सकता है कि एक अवस्था आने पर कुछ प्रतिशत विद्यार्थियों का रुझान, उनका 'प्रकार' (टाइप) अधिक 'बौद्धिक' होने के कारण इन विषयो की तरफ हो जाय। इस प्रश्न पर तो दरअसल अलग ही चर्चा होनी चाहिए। हमारा जो प्रश्न है, उसके लिए इतना ही कहना काफी है कि शिक्षा का माध्यम कला-प्रवृत्तियाँ—सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ, जो कि मनुष्य को 'बोध' देती है, होनी चाहिए और उनका समन्वय उन विषयो से होना चाहिए, जो बुद्धि (मानस) का विकास करते हैं। ऊपर कही गयी प्रवृत्तियों में इस तरह की सभी प्रवृत्तियाँ आती हैं। जैसे दस्तकारियाँ और उद्योग, चित्रकला, मूर्तिकला आदि, नाट्य, नृत्य, संगीत आदि और साहित्य, कविता आदि।

शिक्षा-क्रम ऐसा होना चाहिए, जिसमे हर काम के पीछे विचार-शक्ति और बोध दोनो का एक साथ विकास हो। ऐसा न हो कि विचार-शक्ति का रास्ता अलग बने और बोध का अलग। इसीलिए यह जरूरी है कि बुद्धि के विकास को हमेशा बोध का सहारा रहे। यह तभी होगा, जब कला-प्रवृत्तियाँ शिक्षा की बुनियाद बनेगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि तालीम की पुनर्रचना करनी पडेगी। यह समस्या उतनी पुनस्संगठन की नही है, जितनी दृष्टि बदलने की है। कुछ विषयो से जोर (ऐम्फेसिस) हटाकर दूसरे विषयो पर जोर देने की बात नही है। यह तो हर विषय को एकदम नवीन दृष्टि से देखने का और उससे भी कही अधिक सब विषयो और बालक के व्यक्तित्व के आपस में समन्वय का प्रश्न है।

इसके लिए यह जरूरी है कि हर विषय या तो स्वयं सृजनात्मक प्रवृत्ति हो या किसी सृजनात्मक प्रवृत्ति का सहायक हो। इसी सिलसिले

मे आम तौर पर कही जानेवाली बात का भी जिक्र करने में हमारा यह विचार स्पष्ट होगा। बहुत-से शिक्षा-शास्त्री कहते है कि बालक का हर काम खेल के समान हो जाना चाहिए। हम इस बात को कुछ उल्टा ही रखना चाहते है। ठीक दृष्टि यह होगी कि खेल भी मनो-रजनात्मक प्रवृत्ति न रहकर सृजनात्मक प्रवृत्ति बन जाय। साधारण तौर पर जो खेल खेले जाते है, वे अधिक-से-अधिक शारीरिक विकास ही करते है। इसका कारण यह है कि उनका व्यक्तित्व के साथ कोई सम्बन्ध नही होता। वह तभी होगा, जब कि खेल खेल न रहकर सर्जन बन जाय।

अक्सर स्कूलो मे कुछ दस्तकारियाँ भी मनोरजन की दृष्टि से शिक्षा क्रम का अग मानकर रखी जाती है, उनकी भी बात यही है। मनोरजन आखिर इस रूप मे क्यों? क्या बाकी का सब काम मन की थकावट है, जिनके कारण कुछ प्रवृत्तियाँ उस थकावट को दूर करने के लिए मनोरजन के तौर पर रखनी पड़ी? यह सब इसीलिए कि हममे समन्वय-बुद्धि की कमी है। होना तो यह चाहिए कि काम और मनो-रजन का अलग-अलग कमरा न बनाया जाय। वे दोनो एक ही चीज है। वह तभी होगा, जब कि शिक्षा का हर अग सृजनात्मक प्रवृत्ति का होगा।

यही बात एक और जगह लागू होती है। वह है, उपयोगिता और सौंदर्य के विच्छेद के क्षेत्र मे। हमने कुछ प्रवृत्तियो का जिक्र किया, जैसे: दस्तकारियाँ और उद्योग आदि और चित्रकला, मूर्तिकला आदि। जब हम कहते है कि हर प्रवृत्ति कलात्मक प्रवृत्ति (ऐस्थेटिक ऐक्टिविटी) हो, तो स्पष्ट ही है कि दस्तकारियो और उद्योगो की ओर भी हमारी दृष्टि कुछ अलग ढग की होगी। केवल शिक्षा-क्षेत्र मे नही, बल्कि हमारे पूरे जीवन मे ये दो विभाग बन ही गये है। दस्तकारी और उद्योग बुनियादी तौर पर कलात्मक, सृजनात्मक प्रवृत्तियो के तौर पर लिये जायें। जो कुछ बनायें, वह 'सुदर वस्तु' हो। केवल आर्थिक दृष्टि से धन्धों के तौर पर नही। इसी समन्वय से कला-शिक्षा का उद्देश्य पूरा हो सकता है।



छठा अध्याय

# शिक्षक और शिक्षा का वातावरण

"शिक्षक को अत्यन्त नम्र और विनयवान् व्यक्ति होना चाहिए, वह बालक में कुदरत की करामात का दर्शन करे, न कि उसे पढ़ाने का एक मसाला समझे।"

—फ्रांज सिज़ेक

शिक्षा के सिद्धान्त चाहे कितने भी ठोस और विकसित हों, वे सार्थक तभी होंगे, जब कि उन सिद्धान्तों पर अमल किया जाय। यह निर्भर करता है शिक्षक पर। जब शिक्षक सच्चे अर्थों मे शिक्षक होगा, तभी शिक्षा के इन सिद्धान्तों का कोई उपयोग हो सकता है। सच बात तो यह है कि शिक्षक का अच्छा या बुरा होना उसकी कॉलेज की शिक्षा या उसकी ट्रेनिंग पर निर्भर नही करता। यह अनुभव आम तौर पर शिक्षा-जगत् में काम करनेवाले हर व्यक्ति को आया होगा कि बिना अधिक पढे-लिखे लोग भी अच्छे-से-अच्छे शिक्षक हो सकते है। आखिर यह शिक्षक का अच्छा या बुरा होना किस बात पर निर्भर करता है ?

सबसे पहली बात, जो कि सिद्धान्त के बतौर माननी चाहिए, वह यह है कि किसीको कुछ 'सिखाया' नही जा सकता। अगर कोई कुछ सीखता है, तो वह इसलिए नही कि उसे 'सिखाया' गया है; बल्कि इसलिए कि उसने वह स्वयं सीखा। फिर जब कि हम कला की बात करते है तो यह सभी साफ-साफ जानते है कि कला कोई सिखाने की चीज नही है, वह तो व्यक्ति के अन्दर की चीज है। उसे नियम या फारमुला

लीनो प्रिण्ट ( ७ )—'बगीचे म लडकी', लडकी, उम्र ११-४।

आदि बताने पर रटाने से सिखाया नहीं जा सकता। न तो उसे कोई शिक्षक सिखा सकता है और न कोई स्कूल और न ही कोई कलाकार।

यदि यही सत्य है, तो फिर शिक्षक का क्या काम है? हाँ, इसमें कोई शंका नहीं कि शिक्षक को 'सिखाने' का काम तो नहीं करना है। असल में भारतीय संस्कृति में 'सिखाना' शब्द था ही नहीं। यह शब्द हमें अंग्रेजी के असर से मिला। इस मुद्दे पर बोलते हुए विनोबाजी ने नयी तालीम सम्मेलन, कांचीपुरम् के उद्घाटन-भाषण में कहा था: "एक शब्द की खोज हुई है, उस पर से हिन्दुस्तान की मनोवृत्ति का भान होता है। हिन्दुस्तान के संविधान में कुल चौदह भाषाओं में 'सिखाने' के लिए कोई शब्द नहीं है, 'सीखने' के लिए है। सिखाना याने सीखने में मदद देना, यह कृत्रिम शब्द बनाया गया है। अंग्रेजी के 'टीच' शब्द की तरह कोई शब्द हमारी भाषा में नहीं है। अंग्रेजी में एक शब्द 'लर्न' है और दूसरा शब्द 'टीच'। 'लर्न' एक स्वतंत्र क्रिया है और 'टीच' एक स्वतंत्र क्रिया। यह अध्यापक का अहंकार है। यह अहंकार हम जब तक रखेंगे, तब तक तालीम का तत्त्व नहीं समझेंगे।"

सिखाने का काम आसान है, किन्तु हमारे शिक्षक का काम उससे कहीं कठिन है। सिखाने का काम किस तरह आसान है, इसका उदाहरण 'माँ' है। एक माँ ऐसी होती है, जो बच्चे को खतरे के पास जाने तक नहीं देती। अगर कहीं चूल्हे में आग है, तो बच्चा रसोई-घर में प्रवेश कर ही नहीं सकेगा। हमने स्वयं अपनी आँखों देखा है कि माँ रोटी पका रही है, तो बच्चा दूर पिंजरे जैसे घेरे में खेल रहा है। ऐसी माँ एकदम 'निश्चिन्त' होकर रोटी पकाती है। उसे बच्चे के बारे में कोई डर नहीं। बच्चे को खतरे से दूर किया है। एक दूसरी मा है, जो उसे बाँधती नहीं, बल्कि स्वतन्त्र छोड़ देती है और उस पर अचूक नजर रखती है। वह देखती रहती है कि कहीं बच्चा आग के साथ खेलने तो नहीं लगता। यहाँ तक कि वह उसे तब तक नहीं रोकेगी, जब तक कि उसे सचमुच खतरा ही न हो। उस माँ का काम पहली माँ से अधिक कठिन है। वह वैसे 'निश्चिन्त' होकर रोटी नहीं पका सकती। उसे [illegible]

लिए भी वच्चे को भूलना सम्भव नही है। उसे दो वाते करनी पड़ती है: एक तो यह कि वच्चे को वन्दी वनाकर न रखे, उसे स्वतन्त्रता का अनुभव होने दे और दूसरा यह कि जीवन के और भी छोटे-वड़े अनुभव उसे मिलते रहे। अगर उसे खतरे से वचाना है, तो इसका मतलव यह नही कि खतरे का उसे अनुभव ही न हो। वच्चे को यह मालूम होना चाहिए कि आग खतरनाक चीज है। यह अनुभव होने के लिए उसे आग से कुछ परिचय भी होना चाहिए। यह माँ के ऊपर निर्भर करता है कि आग के साथ किस तरह वालक का परिचय कराये। यही वात शिक्षक के वारे मे भी लागू होती है। एक तो ऐसा शिक्षक है, जिसने वच्चों की कक्षा मे जाकर एक कविता या गद्य का अर्थ समझा दिया और वालकों को उसे रटवा दिया। उस शिक्षक का काम रोजमर्रा रुटीन की तरह चलता है। उसे वालक के व्यक्तित्व से अधिक कुछ सरोकार नही। यह काम आसान है, किन्तु उसे करनेवाले को हम शिक्षक नही कहेगे।

एक दूसरा शिक्षक है, जो कक्षा मे आता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व को महसूस नही होने देता। वच्चे जानते है कि कोई अनुभवी, वड़ा उनके पास है, किन्तु वे स्वतन्त्रता के साथ अपने-अपने अध्ययन मे या सृजन के काम मे लगे रहते है। जिन-जिन वातो की उन्हे जरूरत है, वे उन्हें हमेशा उपलव्ध हैं, इसका उन्हें पूरा-पूरा भरोसा है। ऐसा शिक्षक 'सिखाता' नही है। किन्तु वालक सीखने में उससे खूव मदद पाते है। यही शिक्षक है और इसका काम रुटीन पूरा करनेवाले शिक्षक से कही अधिक कठिन है। यह भाषण नही करता और न वालकों के ऊपर कोई पाठ ही लादता है। हमने तो यहाँ तक देखा है कि ऐसे शिक्षक की देन ( कण्ट्रीव्यूशन ) के वारे मे वालक भी कॉनशस नही होते। उनसे पूछा जाय, तो वे यह भी कह देगे कि "नही, वे हमे कुछ भी नही सिखाते।" अगर ऐसी परिस्थिति मे वालक ने कुछ सीखा हो, तो उसका पूरा-पूरा श्रेय उस न सिखानेवाले शिक्षक को ही मिलेगा।

क्या है इस शिक्षक की सफलता का रहस्य ? दो तीन-वाते है,

जो सच्चा शिक्षक होने के लिए आवश्यक है। पहली तो यह, शिक्षक का काम है कि वह वातावरण का निर्माण करे। बालक किसी पद्धति से उतना नही सीखते, जितना वातावरण से। अनुकूल वातावरण प्रेरणादायक होता है। इसलिए शिक्षक का काम है, वातावरण तैयार करना।

दूसरी बात है कि शिक्षक बालक की आवश्यकताओ को समझे। उसे बालक के व्यक्तित्व से परिचय हो, हर बालक को व्यक्तिगत तौर पर समझे और वह बाल-मनोविज्ञान से परिचित हो। किताबो मे जो बाल-मनोविज्ञान पढाया जाता है, उससे हमारा मतलब नही। वह कोई अनावश्यक वस्तु है, ऐसा अर्थ नही; बल्कि सच्चा मनोविज्ञान तो बालक के साथ सीधे सम्बन्ध मे आता है।

और तीसरी बात, जो सबसे अधिक गहरी है, वह है : शिक्षक का और विद्यार्थी का सम्बन्ध। यह शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध स्कूल या क्लास-रूम का सम्बन्ध नही होना चाहिए। यह तो 'चेतन' का 'चेतन' के साथ संबंध होगा। बालक एक चेतन है और शिक्षक भी एक चेतन। यह सम्बन्ध किसी टेकनिकल स्तर का नही होता। यह होता है उससे परे का सम्बन्ध, जहाँ मानव का मानव से सम्बन्ध होता है, जहाँ हृदय का हृदय के साथ योग होता है।

शिक्षा का काम करनेवाले सभी जानते है कि सृजनात्मक प्रवृत्तियो के द्वारा व्यक्ति का पूर्ण विकास होता है और वह सत्यदृष्टि लाभ करता है। किन्तु इसमे कोई शका नही कि प्रवृत्तियो द्वारा, सर्जन के काम के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान आदि का लाभ अलबत्ता होता है, पर जिस आन्तरिक सम्बन्ध की उसे आवश्यकता होती है, वह केवल उन प्रवृत्तियो के द्वारा उसे नही मिल सकता। मनुष्य का एक भीतरी स्तर होता है। वह है, व्यक्ति का व्यक्ति के साथ का लेन-देन का सम्बन्ध। यह उस सतह का सम्बन्ध है, जहाँ स्वार्थ या ज्ञान का मोह भी नही होता। केवल मनुष्य की मनुष्य के साथ मिलने की यह योजना है। यह तभी होगा, जब कि व्यक्ति को व्यक्ति के साथ सह-जीवन का अनुभव हो।

शिक्षक का संबंध केवल देने ही देने का न हो, बल्कि विद्यार्थी और शिक्षक एक-दूसरे के साथ आपसी लेने और देने दोनो का अनुभव करें। "गुरु का मन प्रत्येक मुहूर्त अपने-आपको पाता है, और इसलिए तो वह आपको देता है। यह पाने का आनद अपनी सत्यता का प्रमाण देने के आनन्द मे ही सिद्ध करता है।"*

अगर कला-शिक्षक अपने विद्यार्थी को साधारण विद्यार्थी के नाते नही, बल्कि एक कलाकार के नाते भी बरते, तो भी अधिक-से-अधिक कला-शिक्षा के काम में लाभ हो सकता है। किन्तु अगर वह उसे कलाकार के बदले एक साथी या बन्धु के नाते बरते, तभी उसे आत्मीयता के सम्बन्ध का, आपसी लेन-देन का अनुभव मिलेगा। यही एक सबसे बड़ी चीज है, जो विद्यार्थी मे उस अनुभूति का प्रारम्भ करायेगी, जो बाद मे चलकर उस व्यक्ति को समाज का एक सम्पूर्ण अविभाज्य अग बनायेगी। इसीलिए यह कहना जरूरी है कि तालीम सम्पूर्णता पर तभी पहुँचेगी, जब कि ये दोनो बाते ठीक-ठीक सधेगी : एक तो शिक्षा की विधायक वस्तु (कन्टेन्ट) और दूसरा, शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध।

शिष्य और शिक्षक का यही आत्मीयता का सम्बन्ध बालक और उसके प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के बीच की सीढ़ी भी होती है। समाज के साथ उसकी पहली पैडी तो अपने माता और पिता, खास तौर पर माता होती है। किन्तु माँ का सम्बन्ध इतना भावनाप्रधान (इमोशनल) होता है कि उससे तटस्थ-वृत्ति का विकास आम तौर पर असम्भव होता है। इसलिए हम उस विचार के विरुद्ध भी अपना मत प्रकट करना चाहते हैं, जिसमे शिक्षक को माँ होने के लिए कहा गया है। यह लेन-देन का तटस्थ वृत्तिवाला सम्बन्ध केवल गुरु ही स्थापित कर सकता है। बालक और वातावरण के बीच जिस सेतु का काम शिक्षक करता है, वह उसी तरह का है, जो मन्दिर मे पुजारी या पुरोहित का होता है।

* रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'आश्रम में शिक्षा'।

गहरे-से-गहरा साधक भी जब मन्दिर में देव-दर्शन के लिए जाता है, तो आशीर्वाद और प्रसाद पुजारी के मारफत ही लेता है।

व्यक्ति का जन्म एक बार तो माँ की कोख मे होता है। किन्तु समाज और प्रकृति मे प्रवेश पाने के लिए उसका एक जन्म और होता है। यह है, ज्ञानसाधना या सृजनात्मक प्रवृत्तियो द्वारा निर्माण के जरिये। जिस प्रकार पहले जन्म के समय एक दाई की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शिक्षक इस दूसरे जन्म के समय दाई होता है।

शिक्षक और बालक का सम्बन्ध ऐसा ही होना चाहिए, जैसा दो प्रेमियो का, जो साथ-साथ नये प्रदेश की यात्रा मे निकले हो और एक-दूसरे के अनुभवो मे साथ देते हो, एक-दूसरे की मानसिक प्रतिक्रियाओ में आपस मे मदद करते हो। इनमें एक गुरु, एक शिष्य जैसी कोई बात नही होती, दोनो साथ-साथ सीखते रहते है। शिक्षक भी विद्यार्थी के साथ-साथ सीखता है और उनका आपसी लेन-देन चलता रहता है।

कला-शिक्षा मे तो यह बात अत्यन्त अनुकूल होती है। और बातों में 'सह-प्रवास' का विचार समझना कुछ कठिन हो सकता है, किन्तु कला-प्रवृत्तियो मे तो हर कृति एक नया शोध ही होती है। वह शिक्षक के लिए भी नयी चीज होती है। बालक और शिक्षक साथ-साथ हर काम मे नये-नये दर्शन करते है। यह सह-दर्शन कला-प्रवृत्तियो मे बिलकुल आसान हो जाता है।

हमारा यह शिक्षक तभी सफल हो सकता है, जब कि उसे उचित चीज, उचित विचार, उचित आचार आदि को चुनने का बोध हो। यही उसकी साधना है। इस तरह जब शिक्षक को यह गुण-विवेक-शक्ति ( सेन्स ऑफ सिलेक्शन ) होगा, तभी विद्यार्थी भी उचित और अनुचित का बोध पा सकेगा। यही गुण जिसे हम सत्य-दृष्टि कहते है, शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य है। कला-बोध के सिलसिले मे यह जरूरी है कि विद्यार्थी मे ठीक-ठीक चुनाव करने की वृत्ति का निर्माण हो। वही कला-बोध है।

शिक्षक के आवश्यक गुणो मे से सवसे महत्त्वपूर्ण गुण, शिक्षक और विद्यार्थी-सम्वन्ध की यहाँ तक चर्चा की गयी। अव इस वात की चर्चा करेगे कि उसे वालक के मनोविज्ञान का कैसा ज्ञान होना चाहिए। हमने कहा है कि पुस्तकीय मनोविज्ञान उतना महत्त्वपूर्ण नही है, जितना अपने प्रत्यक्ष अनुभव का। शिक्षक के लिए तो हर वालक स्वय मे एक-एक ग्रथ है। अगर मनोविज्ञान का शिक्षक वालक का सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण करता रहे, तो उसे विना किसी गहरी शास्त्रीय चर्चा मे पडे अनेक ऐसे दर्शन होगे, जो केवल मनोवैज्ञानिक नियम ही नही, वल्कि अपने-आप मार्गदर्शन देनेवाले अनुभव होंगे।

आखिर शिक्षक का जो कुछ भी ज्ञान है, जो कुछ भी उसे सीखना-जानना है, वह सभी तो वालक के लिए होता है। इसलिए उसे हमेशा वाल्यावस्था की आवश्यकताओ को समझने की चेष्टा करते रहना चाहिए।

पहले एक अध्याय मे कला की ओर वालक की क्या दृष्टि होती है, इसका विस्तार से वर्णन किया है। उसमे उन मुद्दो पर चर्चा की गयी है, जिनके कारण वालक कला-प्रवृत्तियो मे आनन्द महसूस करता है। हालाँकि वालक की हर प्रवृत्ति के वारे मे यह वात लागू होती है, लेकिन खास विचार चित्र-कला और शिक्षक की तैयारी के वारे मे चर्चा करते समय इस पर फिर से ध्यान खीचना जरूरी है। जव शिक्षक को वालक के गुण-धर्म और उसके शुद्ध आनन्द के तरीको के वारे मे ज्ञान हो जाय, तो उसके लिए उसकी तैयारी करना भी आसान हो जायगा। हमने शिक्षक के सामने यह वात रखी है कि उसे वातावरण निर्माण करना चाहिए, यह वात और वच्चे कला का काम क्यो करना चाहते है, इन दोनो मे वडा सवंध है। वातावरण कैसा ? ऐसा, जिससे वच्चो को प्रेरणा मिले, जिससे वच्चो को सहारा महसूस हो।

एक साधारण-सी वात है। हमने कला-वर्ग मे देखा है कि जव वच्चा चित्र वनाना पूरा कर लेता है, तो दौड़कर आता है और शिक्षक को अपना चित्र देखने के लिए कहता है। अगर शिक्षक ने अनमने ढग से

चित्र देखा, तो उसे बुरा लगता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि कुछ क्षण के बाद वह फिर चित्र दिखाने के लिए ले आता है। यह बालक की 'आवश्यकता' है। उसने काम किया और उसके 'सहारे' ने, उसके 'बधु' ने उसे देखा नही, उस पर कुछ मन्तव्य प्रकट नही किया, तो उससे वह शिक्षक बालक को समझता नही, यही सिद्ध होगा। ऐसे शिक्षक के द्वारा ऐसा वातावरण नही बन सकता, जो बच्चो को प्रेरणा दे सके।

विओला अपनी 'चाइल्ड आर्ट' नामक पुस्तक मे अपना एक अनुभव लिखते है। वे कहते है कि एक बार एक घटा चित्रकला के काम के बाद वे उन बच्चो से, जो ३ साल से ७ साल की उम्रवाले थे, उन सबके काम के बारे मे चर्चा कर रहे थे। जब उन्होने चर्चा समाप्त की, तो देखा कि ६ साल की बच्ची 'सूसान' सिसक-सिसककर रो रही है। जब उन्होने उससे रोने का कारण पूछा, तो 'सूसान' बोली कि उन्होने उसके चित्र की समालोचना तो की नही। उन्होने केवल चर्चा ही नही, बल्कि 'सूसान' के चित्र की तारीफ भी की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय बेचारी 'सूसान' बाहर चली गयी थी, जिसका शिक्षक को खयाल नही रहा था।

क्यो इतनी इच्छा थी उस बच्ची को अपने चित्र के बारे मे कुछ सुनने की ? इसीलिए कि वह प्रतिष्ठा ( रेकगनीशन ) चाहती थी, जो उसे लगा था कि नही मिली। यह प्रतिष्ठा, केवल बालक ही नही, हरएक सयाना भी चाहता है। मनुष्य कितना तरसता है, छटपटाता है, 'स्थान' के लिए। छोटा बालक तो केवल इसीसे सन्तुष्ट हो जाता है कि कोई उसे देखे, उसके काम की तारीफ करे। वातावरण मे बालक के अस्तित्व की प्रतिष्ठा उसे महसूस होनी चाहिए।

पुराने शिक्षक के सामने अगर रेखाएँ टेढी हो गयी या चित्र ऐसा बना, जो सयाने की नजर से गलत हो, तो फौरन वह शिक्षक बालक को डॉटेगा। कम-से-कम उसके काम की गलतियो की निन्दा तो करेगा ही। इसमे तो कोई शक ही नही कि बच्चा अगर स्वतत्र, कलाकार की हैसियत से काम करेगा, तो उसकी तसवीर सयानो की कलाकृति जैसी नही, बल्कि बच्चो की कला का नमूना होगी और वह पुराने

ड्रॉइंग-टीचर की नजर में वेकार चीज होगी। उसमें गलतियाँ ही गलतियाँ भरी हुई होंगी। ऐसे शिक्षक के साथ वालक कभी समानता का वोव अनुभव नही कर सकता। उसे हमेशा न्यूनता का अनुभव होता रहेगा और आखिर उसकी कल्पना-शक्ति की ताजगी हमेशा के लिए खतम हो जायगी।

जो शिक्षक वालक के कला-धर्म को समझता हो, जो 'वच्चो की कला' से प्रेम करता हो और जो उससे दर्शन पाता हो, अगर वह शिक्षक वच्चे को 'सिक्यूरिटी' का भान करा सकता है, तो वही शिक्षक वालक का 'हीरो', 'वन्धु' और 'गुरु' वन सकता है। ऐसा शिक्षक वच्चे की कला-कृतियो मे गलतियों को नही ढँढता, वल्कि वह वच्चे की कला-कृति की गलतियों को उसका अलकार मानता है। फ़ान्ज सिज़ेक ने एक वार कहा था : "वालक की कला-कृति की सवसे सुन्दर चीज उसकी 'गलतियाँ' है। उसमे जितनी अविक सख्या में ये गलतियाँ होगी, उतनी ही कमाल की वह कृति होगी। और शिक्षक इन गलतियो को जितना सुधारता जायगा, वह कृति उतनी ही वेजान, मन्द और व्यक्तित्व हीन वन जायगी।" 'वच्चों की कला' के इन गुरु के इस एक वाक्य से ही श्रद्धावान् शिक्षक काफी सीख सकता है।

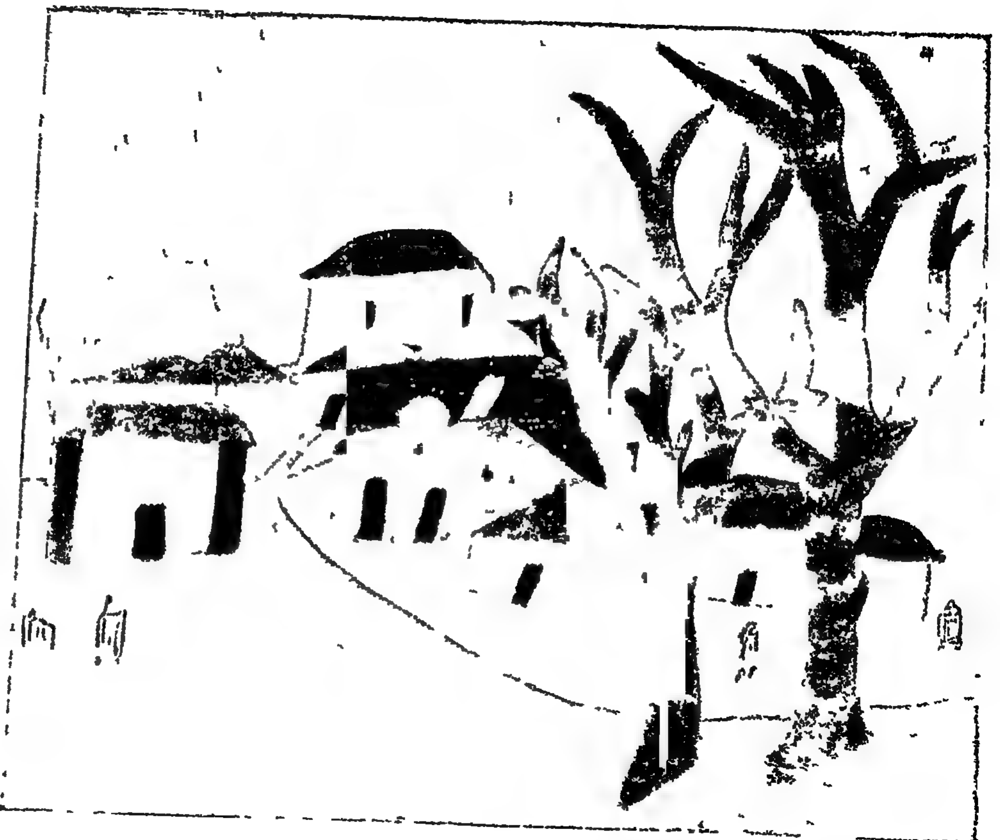
शिक्षक की दृष्टि कैसी हो, उसकी शाला का वातावरण कैसा हो, इस पर विचार करने के लिए हम फ्रान्ज सिजेक के कुछ और शव्द देते हैं : "मैंने वालक को मुक्त कराया। मुझसे पहले चित्र वनाने, लकीरे खीचने आदि के लिए वच्चो को डाँट मिला करती थी, उन्हे सजा मिलती थी। मैंने उन्हे इस वर्ताव से वचाया। मैंने उनसे कहा कि तुम जो कुछ वनाते हो, वह अच्छा है। मैंने आदमी को ऐसी चीज दी, जो मेरे आने के पहले ठुकरायी जाती थी। माता-पिताओ को मैंने वालकों की सृजनात्मक शक्ति का दर्शन कराया। उन्हे वच्चो से दूर रखा, यह कहकर कि 'सयानो का प्रवेश निपिद्ध है।' पहले शिक्षकों और पालको ने वच्चो की अच्छी-से-अच्छी वातो को दवा रखा था। किन्तु मैंने यह सव जो किया, एक शिक्षा-शास्त्री के नाते नही; वल्कि एक मानव,

एक कलाकार के नाते किया। ऐसी चीजे शिक्षाशास्त्र ( पेडेगॉगी ) से नही मिलती। वे मिलती है, मानवीय और कलात्मक दृष्टि से या यह कहे कि मानवीय कलात्मकता से।"

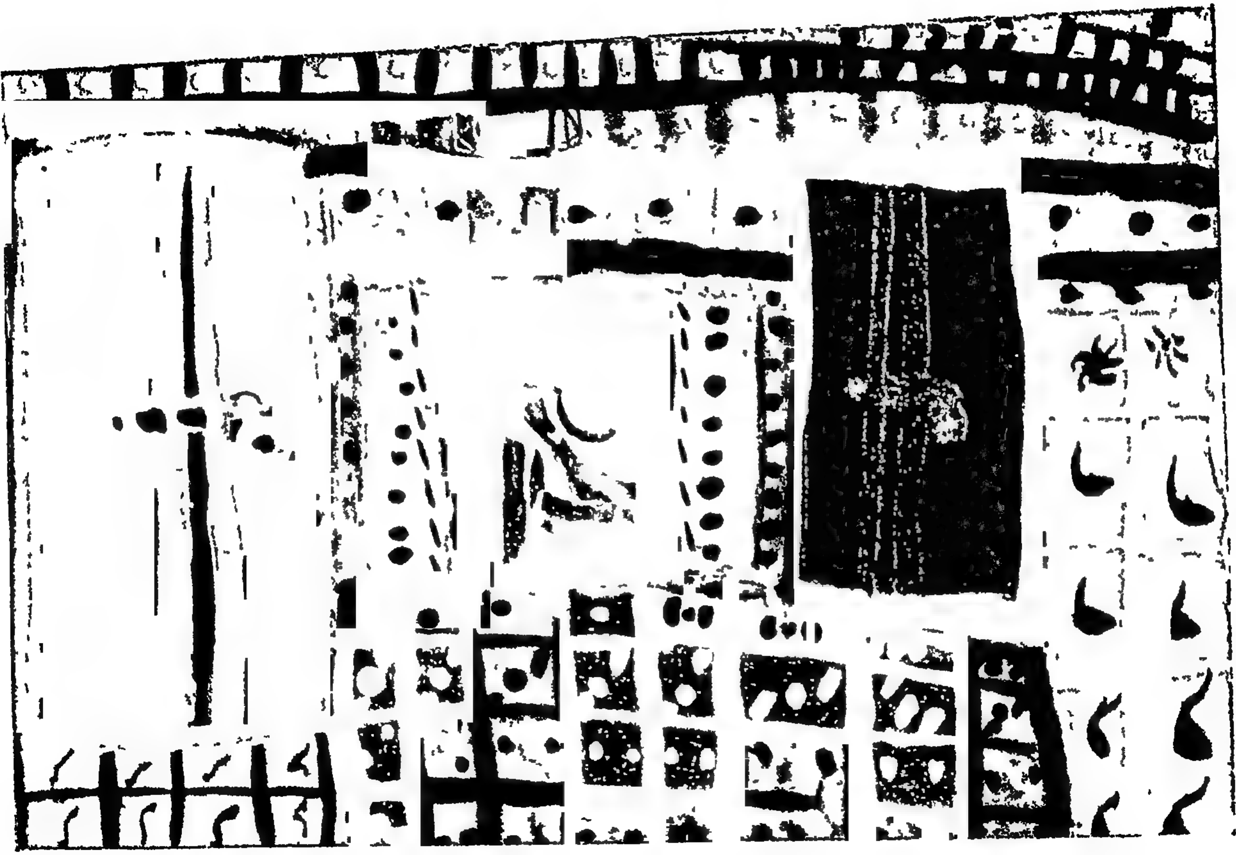
यह है वह दृष्टि, जिसके द्वारा शिक्षक पर वालक का विश्वास और प्रेम वैठता है और जो सृजनात्मक प्रवृत्तियो के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने मे मदद करती है। वालक का शिक्षक के लिए प्रेम और शिक्षक का वालक पर सच्चा प्रेम जव तक नही होगा, तव तक वालक शिक्षक के सामने दिल नही खोल सकेगा। कला मे आत्म-प्रकटन, दिल खोलना ही तो है। अगर आत्म-प्रकटन मे खुला दिल नही होगा, तो वह आत्म-प्रकटन नही हो सकता। उससे भावनाओ का जो निकास होना चाहिए, वह नही हो सकता। वालक कला-प्रवृत्तियों को इसलिए भी पसद करता है कि उसके द्वारा उसकी भावनाओ का निकास होता है, जिससे वह तृप्ति का अनुभव करता है। इसलिए वातावरण मे प्रेम का होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे वालक के दिल को हर्ष होता है। जहाँ वातावरण ऐसा नही होता, वहाँ वालक भी अपने मन की वात नही कहते। वहाँ वे पहचान लेते है कि शिक्षक क्या सुनना चाहता है और वालक ठीक उसीके अनुसार वोलते है। यह नकलीपन है। इसमे 'चेतन का सम्वन्ध चेतन से' नही हो सकता। जहाँ चेतन चेतन से वोल नही सकता, वहाँ शिक्षा कैसे हो सकती है ?

जहाँ शिक्षक विद्यार्थी की तरफ देखकर मन-ही-मन यह कह सके ( उसे यह वात किसीको कहने की जरूरत नही, क्योकि अगर यह उसके दिल की वात होगी, तो उसका हर जर्रा इस दृष्टि का साक्षी होगा।) कि 'जैसा मै चेतन हूँ, वैसा तू भी चेतन है', तो शिक्षा का अधिकाश हो गया, ऐसा मानना चाहिए। ऐसी परिस्थिति मे शिक्षक को कोई वात जान-बूझकर ( कॉनशसली ) या जवरदस्ती सिखाने की जरूरत नही होगी। व्यूवर नाम के दार्शनिक ने 'विट्वीन मैन एण्ड मैन' नामक पुस्तक मे अपनी शिक्षा-दृष्टि के वारे मे लिखते हुए कहा है : "शिक्षक पूरा-पूरा जीता-जागता होना चाहिए, जिससे कि वह अपने 'साथवालो'

( व्यूवर ने 'विद्यार्थी' नही कहा है, उन्होंने 'साथी' कहा है ) के साथ साक्षात् सम्वन्ध स्थापित कर सके। किन्तु उसे यह ऐसा सोचकर नही करना चाहिए कि वह उन पर प्रभाव डालेगा। सवसे अधिक प्रभावशाली तो वह केवल अपनी उपस्थिति के कारण होता है, जो उपस्थिति किसी प्रकार की स्वेच्छा या विशेष चेष्टा द्वारा प्रभाव डालने के लिए नही होती। तभी तो वह, जो सचमुच है, उसीके साथ शिक्षक का साक्षात् सम्वन्ध कायम होगा।" इसी तरह गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है : "मन के साथ मन का ठीक रूप से मिलन होता रहे, तो खुशी अपने-आप जाग्रत होती है। यही खुशी है सृजनशील शक्ति। शिक्षा-दान इसी खुशी का दान है। जिनके मन मे कर्तव्य-वोध तो है, किन्तु यह खुशी नही है, उनका रास्ता दूसरा है। गुरु-शिष्य के वीच परस्पर सापेक्ष-सहज सम्वन्ध को ही मैं विद्यादान का प्रधान माध्यम समझता हूँ।" केवल कर्तव्य-वोध से काम नही चल सकता। कई शिक्षक ऐसे हो सकते है, जो हर समय अपने कर्तव्य के वारे मे सचेत तो रहते है, किन्तु वे विद्यार्थी को न तो प्रेरणा दे पाते है और न उन्हे अपनेपन का भान करा पाते है। अपनी सद्भावना और कर्तव्य-वोध के कारण वे विद्यार्थियो के लिए श्रम भी करते है, किन्तु उनके उस श्रम का फल केवल इतना ही होता है कि विद्यार्थी कहे : 'क्लास अच्छी लेते है।' किन्तु जैसा कि गुरुदेव ने कहा, इससे उस खुशी का दान नही होता है, वह तो तभी होगा, जव कि शिक्षक यत्र की भाँति न रहकर वालक का सहयात्री हो। एक जगह रवीन्द्रनाथ कहते है : "मैंने मन मे गुरु की कल्पना की है। वे यत्र नही है, वे तो मनुष्य है, निष्क्रिय प्रकार के मनुष्य नही, सक्रिय प्रकार के। क्योकि वे उस साधना मे ही रत है, जिसका लक्ष्य है मनुष्यत्व। इस तपस्या की गतिमान् धारा मे शिष्य के चित्त को गतिशील कर उठाना ही उनकी अपनी साधना का अंग है। उनके साथ से शिष्य के जीवन को प्रेरणा मिलती है। शिक्षा का सवसे मूल्यवान् उपादान नित्य जागरुक मानव-चित्त का यही 'साथ' है।"



सात 'ग्रीष्म में मेरा गाँव'
लडका, उम्र १५



आठ 'खिडकी में'

लडकी, उम्र १४-३

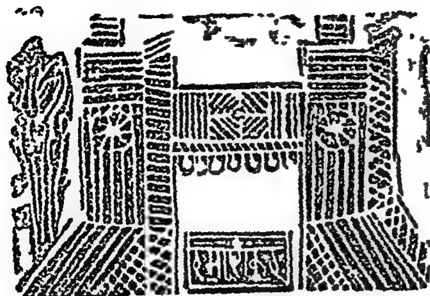
और फिर, यह 'साथ' कौन निर्माण कर सकता है ? वह शिक्षक नही कर सकेगा, जो केवल 'टेकनिकल' मायने मे शिक्षक है। वह भी नही कर सकता, जिसमे कर्तव्य-वोध है, क्योकि वह सृजनशील खुशी दान करने का गुण नही है। यह योग्यता ऐसे गुरु मे हो सकती है, जो वालक के साथ वालक हो सके। जिसके अन्तर का चिरजीवी वाल्यपन सूखा न हो। जिसके वारे मे वालक हमेशा यह महसूस करते रहे कि वह उनका सहपाठी ही है। "जिन गुरु के अन्तर का वाल-मानव विलकुल सूखकर काठ हो गया हो, वे वच्चे की जिम्मेवारी लेने योग्य नही है। दोनों के वीच केवल सामीप्य नही, आन्तरिक अभेद और सादृश्य होना चाहिए, नही तो देने-लेने मे मिलन नही रहता···वालको की पुकार सुनते ही जो जात-शिक्षक ( वॉर्न टीचर ) होते है, उनके अन्दर का आदिम वालक अपने-आप ही वाहर निकल पडता है। उनके मोटे कण्ठ से, प्राण से भरी कोमल हँसी उच्छ्वसित हो उठती है। वालक अगर ऐसे व्यक्ति को किसी भी वाजू से अपना स्वश्रेणीय जीव मानकर न पहचान सकें, अगर सोचे कि यह व्यक्ति कोई महाकाय प्रागैतिहासिक प्राणी है, तो वे उसकी तरफ निर्भय हाथ नही वढा सकेगे।" ( गुरुदेव )

'सच्चा शिक्षक होने के रहस्य' की चर्चा अधिक न वढाकर हम दार्शनिक व्यूवर के कुछ शव्द देकर आगे वढेगे। गुरु-शिष्य के वीच कैसा सभाषण होना चाहिए, यह वताते हुए वे कहते है. "जो चीज चाहिए, वह है सच्चा आदान-प्रदानवाला सवाद, जिसमे दोनो पूरा-पूरा हिस्सा लेनेवाले साथी हों। शिक्षक सवाद की शुरुआत करे, उसका पथ-प्रदर्शन करे और उसमे विना किसी सकोच के पडे। शिक्षक ऐसे सच्चे ठोस प्रश्न पूछे, जिनका पूरा-पूरा उत्तर वह खुद भी नही जानता। शिष्य अपनी पारी के समय उत्तर अपने अनुभव और राय के आधार पर दे। और जव विद्यार्थी शिक्षक से प्रश्न पूछे, तो शिक्षक उसका उत्तर अपने व्यक्तिगत अनुभव की गहराई से दे।

"यह शिक्षक उसकी आत्मा मे उस चीज की खोज करता है, जिसे

उसने अपने में सत्य माना हो और जिसका वह उस आत्मा मे पोपण करता है। क्योकि वह सत्य है, इसलिए वह दूसरे मे भी वास करे, अनेक सम्भावनाओ मे से एक सम्भावना के तौर पर वास करे, ऐसी शक्ति वनकर इसका विकास किया जाना चाहिए। विकास सिखाकर नही, वल्कि मिलन की वुनियाद पर, दोनों के अस्तित्व के प्रत्यक्ष सम्वन्ध के जरिये। ऐसे दो के सम्वन्ध के द्वारा, जिनमे से एक को दिशा-दर्शन प्राप्त हो चुका है और दूसरा वह, जो उसे प्राप्त कर रहा है।"

शिक्षक के ये सव गुण साधना द्वारा प्राप्त करने पड़ते है। यह हो सकता है कि कुछ शिक्षको को यह गुण जन्मतः मिल गये हों, किन्तु ऐसे जात-शिक्षको को भी अपने में उन गुणों का विकास करना पड़ता है। आम शिक्षक कठिन साधना से ही उसे पा सकेगा। श्रद्धा और अनुभव धीरे-धीरे मदद करते है।



सातवाँ अध्याय

# शिक्षा-पद्धति

"मुझे केवल एक बात कहनी है और वह यह कि हमेशा अपने सिद्धान्त का उपदेश ही देते रहने की चेष्टा न करो, बल्कि करो यह कि प्रेम से अपने-आपको ही दे डालो।"

—रवीन्द्रनाथ

उचित तो यह है कि शिक्षक अपने काम की पद्धति स्वय तैयार करे। शुरू-शुरू मे जो शिक्षक प्रयोग के तौर पर किसी विषय को लेकर काम करते है, उनको ऐसा करना ही पडता है, क्योकि इस तरह का काम पहले कम हुआ होता है। किसी-किसी क्षेत्र मे तो पहले बिलकुल ही काम नही हुआ होता। बच्चो की कला-शिक्षा का विषय ऐसा ही है। वियेना के रहनेवाले कला-शिक्षक फ्रान्ज सिजेक के पहले 'बच्चे भी कलाकार होते हैं', ऐसी बात सुनते ही लोग हँस पडते थे। किन्तु आज बच्चो की कला-प्रदर्शनियाँ करना आम फैशन हो गया है। सौभाग्य से उस विषय मे हमारा अनुभव-भडार यथेष्ट है। दुनिया के कुछ देशों में इस विषय पर काफी काम किया जा रहा है।

अब यह पूरी तरह से समझ लिया गया है कि बच्चे में चित्र बनाने की प्रेरणा ( उत्कण्ठा ) जन्मत ही होती है। जिस तरह आदिमानव की स्वाभाविक वृत्ति चट्टानो और गुफाओ की दीवारो पर चित्र आँकने की थी, उसी तरह हर बालक मे भी यह एक आदिवृत्ति होती है। शिक्षक को इसी बुनियादी सत्य को समझते हुए बच्चो को कला-अनुभव देने की योजना बनानी चाहिए। शाला मे कला-प्रवृत्तियो का सगठन अनुभवी

लीनो प्रिण्ट ( ८ )—'सम्मेलन द्वार', लडका, उम्र १३–४।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक होगा। आम शाला मे इतने प्रकार के साधन, माध्यम आदि जुटाना आर्थिक दृष्टि से क्या व्यावहारिक होगा? प्रश्न विलकुल उचित है, किन्तु यह तभी उठता है, जब कि हम कला-साधनो का एकमात्र अर्थ विन्सर यूटन या रीव्ज के कला-साधन समझते है। ऐसा सोचनेवाले शिक्षक को सौ-पचास वर्ष पहले की कल्पना करनी चाहिए। क्या तव भी हमारे कलाकार और कारीगर औजार, रंग आदि विदेश से मँगाते थे? आज भी अनेक ऐसे ऊँचे स्तर के कलाकार है, जो अपने साधन खुद वना लेते है। वच्चों की कला-प्रवृत्तियो के लिए जो सामान लगता है, वह तो सरलता से सग्रह किया या वना लिया जा सकता है। अगर शिक्षक उत्साही और कल्पनाशील होगा, तो उसे कम-से-कम खर्च मे अनेक प्रकार के साधन उपलब्ध हो सकते है। गेरू, पीली मिट्टी, हरे पत्थर आदि से रग वनाना, धुएँ से काला और नील का नीला रग तैयार कर लेना कोई मुश्किल वात नही है। अम्वाडी, सन आदि के रेशों से, जानवरों के कान के और वगल के वालों से वहुत सुन्दर व्रश वन जाते है। खजूर की टहनी को एक तरफ कूटकर मोटा काम करने के लिए काफी अच्छा व्रश वन जाता है। इस तरह का काम एक उत्साही शिक्षक के लिए कुछ कठिन नही है।

## मार्ग-दर्शन

हमारे देश मे अभी तक 'वच्चो की कला' यह नाम तक कम शिक्षक ही जानते है। जव कभी ऐसे शिक्षक हमारे वच्चो के कला-वर्ग, कला-भवन मे आते है, तो अक्सर वे यही सवाल पूछते है: "वच्चे जो चित्र या मूर्ति वना रहे है, क्या वह आपके कहे अनुसार कर रहे है?" इसका उत्तर अस्सी-नव्वे मौको पर 'नही' होगा। यही उत्तर शत-प्रतिशत मौको पर 'नही' नही होगा, इसका कारण समझना चाहिए।

हमने वच्चो की स्वाभाविक 'कला-सीढ़ी' की विस्तृत चर्चा करते समय देखा है कि उनका स्वाभाविक ही विकास होता रहता है। वच्चा दो-ढाई वर्ष की उम्र मे गोल-गोल आकारों जैसे कीरम-काँटे खीचता है

और १२–१३ वर्ष की अवस्था मे आकर वाकायदा ऐसे चित्र वनाने लगता है, जो सयानो के काम जैसे दीखने लगे। अगर वच्चे को उचित वातावरण मिले और अपनी इस कला-सीढी पर उसे स्वाभाविक तौर पर चढने का मौका मिले, तो विना किसीके कुछ सुझाये ही उसका कला-विकास उसकी अपनी पहुँच तक हो जायगा। किन्तु इतना आदर्श वातावरण और खास तौर पर ऐसा सामाजिक मानस मिलना सम्भव नही है। इसलिए कभी-कभी कुछ मदद और मार्ग-दर्शन के तौर पर शिक्षक को सुझाव आदि देने पड़ते है और वही यह १०-२० प्रतिशत मौको पर होता है, जव कि ऊपर जिक्र किये गये प्रश्न का उत्तर 'नही' मे नही होगा। किन्तु वह 'हाँ' मे तो होगा ही नही। क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित होगा, अगर मै वालक को 'ऐसा चित्र वनाओ' कहूँ तो।

वच्चे स्वय-प्रेरित होकर चित्रकला जैसी प्रवृत्ति मे पड़ते है, यह सामान्य तौर पर मानी हुई वात है। किन्तु हमने यह भी देखा है कि घर या शाला के वातावरण के ऊपर यह प्रेरणा निर्भर होती है। अगर हम यह मान ले कि शाला का वातावरण इस प्रेरणा को देने के लिए अनुकूल है, तो अनुभव यह आयेगा कि अधिकतर वच्चे जव चित्रकला करने के लिए आयेगे, तो उनके मन मे पहले से ही कुछ योजना रहेगी। वे किस प्रवृत्ति मे लगेगे—चित्र वनाना, मिट्टी की मूर्ति या वर्तन, अल्पना आदि—यह उनके मन मे पहले से ही ठीक होगा और क्या चित्र वनाना है, यह भी। हो सकता है कि हठात् अगर आपने पूछा, तो हर वच्चा यह शव्दो मे न वता पाये कि क्या चित्र वनायेगा। किन्तु जव साधन लेकर वैठेगा, तो सूक्ष्म निरीक्षण करने पर पता चलेगा कि वह विना किसी सचेत-प्रयास के चित्र वनाना शुरू कर देता है। इसका कारण यह है कि उसे आम तौर पर जो वाते आत्म-प्रकटन की प्रेरणा पाने के लिए आवश्यक है, उस वातावरण मे मिल रही है। यानी उसे नित्य नये-नये अनुभव और भरपूर प्रोत्साहन वातावरण द्वारा मिल रहा है।

कभी-कभी कुछ ऐसे मौके आते है, जव कुछ कारणो से वालक अनु-

कूल वातावरण होते हुए भी कुछ कर नहीं पाता। उसे कुछ सूझता नही। सच वात तो यह है कि सचमुच अनुकूल वातावरण आज की हालत मे हो नही सकता। घर की हालत भी प्रोत्साहन देनेवाली हो और शाला की भी वैसी हो, तो भी वाहरी समाज की परिस्थिति के कारण वालक के मन मे गाँठ वैठ सकती है। कई जन्मजात कारण भी हो सकते है, जो हर व्यक्ति की सम्भावनाओ की सीमा को निश्चित करते है। इन वातो के कारण कुछ वालक ऐसी परिस्थिति में पड जाते है कि उन्हे कुछ सूझता नही। ऐसी हालत मे जरूरी है कि परिस्थिति का निदान-( डायग्नोसिस ) किया जाय। सवसे मुख्य कारण तो पहले कह दिया कि नये अनुभवों का अभाव आत्म-प्रकटन के प्रवाह को रोक देता है। दूसरा कारण न्यूनता का भाव ( इन्फीरियारिटी ) हो सकता है। कुछ कारणो से—जैसे उचित प्रोत्साहन की कमी, अनुचित समालोचना, खुद की कमजोरी आदि के कारण—आत्म-प्रकटन करने में सकोच हो जाता है। खास तौर पर आठ-नौ साल की उम्र के वाद यह वहुत हो सकता है। इसका इलाज यही हो सकता है कि शिक्षक उसे हमेशा उत्साहित करता रहे और कमजोरी के मौके पर उसका 'सहारा' वने। प्रयत्न यह हो कि वालक का न्यूनता का भाव निकल जाय। जहाँ तक वालक की सीमा है, वहाँ तक उसे पहुंचाने की जिम्मेवारी शिक्षक और वातावरण की है।

## प्रारम्भ किया चित्र पूरा किया ही जाय

मार्ग-दर्शन या सिखाने की जो अत्यन्त आवश्यक वाते है, उनमें से एक तो यह है कि वालको को जो भी काम वे हाथ मे ले, उसे पूरा करने की आदत डालनी चाहिए। छोटी उम्र मे वालक एक ही वैठक में चित्र पूरा कर देता है। पूरा हुआ या नही, इसका निर्णय भी वह स्वयं करता है। कभी चित्र दो मिनट में भी पूरा हो जाता है और कभी एक घंटे तक जमकर भी वालक उसे पूरा कर देता है। परन्तु कभी-कभी ऐसे मौके आते है, जिनके कारण एक वैठक मे चित्र पूरा नही हो पाता। या तो वह चित्र इस प्रकार का होता है, जिसमे काम अधिक हो और

या किसी दूसरे कारणवश बालक को बीच मे ही उठ जाना पड़ सकता हो। शिक्षक का फर्ज है कि वह बालक से दूसरा चित्र बनाने के पहले अपूर्ण चित्र को पूरा करा ले। इससे जिस मानसिक ट्रेनिंग की व्यक्ति के विकास करने के लिए आवश्यकता है, वह होगी। हाँ, इस नियम को इतना कठोर न बनाया जाय कि बालक को नये चित्र बनाने की तीव्र प्रेरणा हो रही हो और शिक्षक उससे कहे कि नही, तुम्हे रग तभी मिलेगा, जब कि पहला चित्र पूरा करोगे। इन बातो का निर्णय शिक्षक को समझ-बूझकर करना चाहिए।

## साधनों को स्वच्छ रखें

एक बात और, जिस पर शिक्षक का ध्यान सतत रहना चाहिए। वह यह है कि बालको को रग, कूँची आदि साधनो को गदगी के साथ इस्तेमाल करने से रोके। रग आदि स्वतत्रता के साथ इस्तेमाल किये जायँ, परन्तु बालक उनको सफाई से इस्तेमाल करे। रंगो को भी जब आपस मे मिलाना हो, तो अलग प्लेट पर मिलाये। रगो की कटोरियो मे रग आपस मे मिलकर अपनी शुद्धता खो बैठते है। एक रग का ब्रश बिना साफ किये दूसरे रग मे न डाला जाय। पानी के बर्तन को साफ रखे, पानी बार-बार बदलते रहे। हाथ बिलकुल साफ रहे। जिस बोर्ड पर रखकर चित्र बना रहे हो, वह साफ हो। सफाई के इस पहलू पर पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा, तो केवल चित्र ही साफ नही बनेंगे, बालक के हृदय मे सफाई और सौदर्य का बोध गहराई तक प्रवेश करेगा।

केवल चित्र-कला ही नही, सभी कामो मे कुछ सिद्धान्तो का पालन होना आवश्यक होता है। चित्र बनाते समय बालक सीधे बैठे। इसमें स्वास्थ्य की दृप्टि तो है ही, कला-प्रवृत्ति मे दक्षता हासिल करने के लिए वह जरूरी है। अगर सरल आसन मे बैठेंगे, तो शरीर का वजन शरीर स्वय सँभालेगा और हाथ कधो से लेकर उँगलियों तक स्वतन्त्र रहेगा,

जो चित्रकला के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हाथ को पूरा खोलकर मुक्त भाव से चित्रण करना चाहिए। इसमे सारा शरीर काम करता है। हाथ खुलता है, मन स्वच्छंदता से काम करता है।

## बैठने का ढंग

वर्ग में बैठने के बारे में भी कुछ सोच लेना चाहिए। आम तौर पर बालक स्वतन्त्र आत्म-प्रकटन ही करेंगे। ऐसी हालत में उन्हें पास-पास न बैठाकर अलग-अलग बैठाना अच्छा है। जहाँ कही भी—निश्चित क्षेत्र में—बैठने की छूट देना उचित है। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि बालक बेढंगे तौर पर तो नही बैठे हैं। इस ओर ध्यान रखना शिक्षक का काम है। बैठने की चर्चा करते समय प्रकाश की आवश्यकता पर ध्यान देना होगा। बालक जहाँ भी बैठे, उनकी बायी ओर से प्रकाश आना चाहिए। प्रकाश सामने से या पीछे से नही आना चाहिए। अगर बालक बाये हाथ से काम करनेवाला है, तो प्रकाश दाहिनी बाजू से आना चाहिए। ऊपर से भी प्रकाश आना अच्छा होता है। अगर गलत जगह से प्रकाश आयेगा, तो चित्र पर छाया पड़ेगी और बालक की आँखें खराब होंगी।

बच्चों को पेंसिल या कूंची को एकदम नोक के पास से पकड़ने की आदत पड़ जाती है। शिक्षक भी उस पर ध्यान नही देते। इसका असर यह होता है कि ड्रॉइंग करते समय हाथ नही खुलता, चित्र छोटे-छोटे, छोटी-छोटी लकीरोंवाले हो जाते है। अगर बिलकुल ही बारीक काम न हो रहा हो, तो पेंसिल कम-से-कम डेढ़ इच दूर से पकड़नी चाहिए। अगर स्केचिंग कर रहे हो, तो तीन-चार इंच के फासले पर पकड़ी जानी चाहिए।

चित्र-कला की टेकनिक सिखानी नही है, किन्तु साधनों का ठीक उपयोग कैसे करना चाहिए, इसके बारे मे बालको को आवश्यकता-नुसार मार्गदर्शन करना चाहिए। जिस प्रकार प्रतिभाशाली कलाकार

अपनी टेकनिक अपने-आप निर्माण करता है, उसी प्रकार हर बालक-कलाकार भी अपनी टेकनिक स्वयं तैयार करेगा।

## आकार-भेद और रंग-भेद का बोध

अलग-अलग आकारो का आपस में फर्क, रंगो के फर्क का ज्ञान वैसे तो कला-प्रवृत्ति करते-करते आ ही जाता है, परन्तु उसका अभ्यास सात और आठ साल की उम्र में योजनापूर्वक प्रारम्भ करना अच्छा होता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इससे बालक के आत्म-प्रकटन पर बुरा असर न पड़े। ठीक ढग से दिया गया इस प्रकार का ज्ञान चित्र-कला, मूर्ति-कला और दस्तकारियो द्वारा किये गये आत्म-प्रकटन को मदद ही पहुँचायेगा।

आम के पत्ते मे और केले के पत्ते मे क्या भेद है ? आकाश के रंग मे और जमीन के रंग मे क्या फर्क है ? ये प्रश्न वैसे तो मोटे दीखते है, परन्तु इनका उत्तर बालक ठीक समझा सके और खास तौर पर शब्दों की भाषा की अपेक्षा आकार की भाषा मे प्रकट कर सके, तो वह ठीक शिक्षा होगी। आम के पत्ते और अमरूद के पत्ते के आकारो मे क्या फर्क है ? अमरूद के पत्ते के आकार मे और सीताफल के पत्ते के आकारो मे क्या फर्क है ? पीपल के पत्ते के रग और बेल के पत्ते के रग का फर्क, तोते का हरा और बेल के पत्ते का हरा, यह सब उसी आकार-भेद और रग-भेद का सूक्ष्म ज्ञान है, जो धीरे-धीरे बालक को कभी तो विशेष पद्धति द्वारा और कभी स्वाभाविक कला-प्रवृत्तियो के दौरान मे दिया जाना चाहिए।

इसी सिलसिले में एक बात और कहना आवश्यक है। प्रकृति के साथ बधुत्व, प्रकृति के सौंदर्य के साथ सपर्क की बात पहले अध्याय मे कही गयी है। कला-शिक्षा स्वय उस कार्य को तो करती है, परन्तु उसका सचेष्ट कार्यक्रम भी हमे बनाना चाहिए। सौभाग्य से भारतीय परम्परा मे अनेक बाते ऐसी है, जिन्हे अगर समझकर अपना लिया जाय, तो बहुत-सी मजिल तय हो जायगी।

## रंगों के नाम और सादृश्य

भारतीय चित्र-कला के शास्त्र में षडगों* ( छह अंगों ) का जिक्र है। इनमे से एक अंग है : सादृश्य। किसीकी आँख सुन्दर है, तो उसके साथ उसी आकार से सादृश्य रखनेवाले आकार की सुन्दरता भी जोड़ दी जाय, तो आँख दुगुनी सुन्दर हो जायगी। मीनाक्षि—मछली के आकारवाली आँख। शरीर का धड़वाला हिस्सा गोमुखी। इस प्रकार जिस तरह भी हो सके, जिन रास्तो से भी हो सके, प्रकृति के साथ संपर्क और एकात्म-बोध करने का यह एक मार्ग है।

इसी तरह रंगों के नाम की भी बात है। मैं विलायती नामों को समझ ही नही सकता। 'न्यू ब्लू' कहने से केवल वही समझेगा, जिसने वह रंग इस्तेमाल किया होगा। परन्तु आसमानी नीला, तोतिया हरा सुनने से फौरन विशाल आकाश, सुन्दर तोता पक्षी सामने खिलवाड करने लगते हैं। रंगों के नाम रखने की यह पद्धति रंग मे प्राण डाल देती है। प्रकृति आत्मसात् हो जाती है। यह पद्धति हमें शालाओं मे अपनानी

---

* रूपभेदा प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभग इति चित्रं षडगकम्॥

आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तक 'भारत शिल्पेर षडग' के अनुसार इन छह अगो का अर्थ इस प्रकार है·

१. रूपभेदा : रूप का ज्ञान, रूप-रूप में विभिन्नता, रूप का मर्मभेद या रहस्य-उद्घाटन।

२ प्रमाणानि वस्तुरूप के सम्वन्ध में प्रमा और भ्रमविहीन ज्ञानलाभ। बस्तु का नैकट्य, दूरत्व और उसका दैर्घ्य, प्रस्थ इत्यादि का मान-परिमाण।

३. भाव : आकृति पर भावनाओ की प्रतिक्रिया।

४. लावण्ययोजनम्· लावण्य का निर्माण। रूप का कलात्मक प्रतिरूपण।

५. सादृश्यम्· किसी एक रूप के भाव को अन्य किसी रूप की सहायता से हमारे मन में उद्रेक कर देना।

६. वर्णिकाभंगः : तरह-तरह के वर्णो को उपयोग करने की पद्धति, तूलिका को चलाने की भाव-भगी।

चाहिए। सादृश्य का यह पहलू शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग बन जाना चाहिए। यह कला-शिक्षा का काम है।

## वर्गीकरण

यह प्रश्न कि किस-किस उम्र में बालकों को साथ काम करने दिया जा सकता है, महत्त्वपूर्ण है। सामान्य तौर पर अलग-अलग अवस्था-वाले बालको की अलग-अलग टोलियाँ बनाना उचित होता है, क्योंकि हम चाहते हैं कि बालकों पर उचित समय से पहले सयानों का असर न पडे। इसलिए किशोर अवस्था में प्रवेश करनेवाली टोली को प्रतीक-प्रधान अवस्थावाली टोली से अलग काम देना उचित है। आम तौर पर अवस्था का खयाल रखना चाहिए। हालाँकि पूरी शाला के सामूहिक प्रोजेक्टों में सभी साथ काम करें, यह वांछनीय है। ऐसे मौको पर कार्य-विविधता के कारण वर्गीकरण पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नही।

## एक ही चित्र बार-बार

एक समस्या आम तौर पर शिक्षकों के सामने आती है। देखा जाता है कि कुछ बालक एक ही चित्र को हमेशा बनाते रहते हैं। जब कभी भी वे कला-वर्ग में आते हैं, तो वही एक ही चित्र बनाया और चले गये। इस समस्या को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। मैं तो मानता हूँ कि कला-प्रवृत्ति बालक की समग्र शिक्षा का दर्पण होती है। कुछ ऐसी बाते होती हैं, जो दूसरे समय पता नहीं चलतीं। जिस तरह रोग का निदान किया जाता है, उसी प्रकार कला-प्रवृत्ति का भी निदानात्मक—'डायग्नॉस्टिक' पहलू होता है। बच्चा हमेशा जो एक ही चित्र बनाता है, इसका क्या कारण है? नया चित्र न बनाना जरूर किसी बीमारी का लक्षण है। यह बीमारी क्या हो सकती है? बच्चे के मन मे नयी बातें प्रवेश नहीं कर रही हैं। जो शिक्षा उसको मिल रही है, वह ऊपर-ही-ऊपर रह जाती है। उसका उसे आन्तरिक स्पर्श नही होता। शिक्षक को अगर इस बात का बोध हो जाय कि बालक

एक ही चित्र वार-वार इसलिए वना रहा है कि उसकी पूरी शिक्षा में कुछ दोष है, उसे जो शिक्षा दी जा रही है, वह उसे स्पर्श नही कर रही है, तो वह ( शिक्षक ) अपनी शिक्षा-पद्धति मे ही तवदीली करेगा।

मुझे इस तरह के अनुभव अनेक वार आये है। एक वार एक वालक एक ही चित्र को करीव-करीव आठ माह तक वनाता रहा। एक घर और उसके सामने एक मुडता हुआ रास्ता। कभी-कभी रास्ते पर एक लड़का भी आ जाया करता था। ऊपर आकाश! मैंने अपना एक इलाज उस पर भी आजमाया। चित्रकला-वर्ग मे आने पर उससे कई वार कहता था: "तुम आज ऐसा चित्र वनाओ, जो तुमने आज तक कभी भी न वनाया हो।" आम तौर पर वालको को ऐसा वाक्य कुछ चिन्तन करने के रास्ते पर लगा देता है। किन्तु इस वार मै फेल हुआ। फिर यह कहकर कोशिश की: "आज तुम अपनी चित्रकला-वही को पूरा-पूरा देखो और मुझे वताओ कि आज तक तुमने कितने प्रकार के चित्र वनाये?" मैंने वार-वार उसके पास वैठकर इस वात को समझाने की कोशिश की कि वह हमेशा एक ही प्रकार का चित्र वनाता है। मैंने कहा: "आज कुछ नया वनाओ।" इसमे भी मै फेल हुआ।

वगीचे मे गोशाला के चारे के लिए सूर्यमुखी का खेत लगाया गया था। पूरा खेत फूलों से भरा था। मुझे सूझा कि जव यह सूर्य जैसा चमकता हुआ खेत मुझे स्पर्श कर रहा है, तो देखूं, वच्चो पर इसका क्या असर पड़ता है। अगले दिन वही टोली आयी, जिसमे यह वच्चा था, जिसका जिक्र हम कर रहे है। वर्ग मे आते ही सैर के लिए जाने का सुझाव जैसे मैंने रखा, सव खुश हो गये। एक वच्चे ने कहा "हम अपने रग और वही भी लेते चलेगे।" मैंने कहा: "नही, जो कुछ चित्र वनाना है, आकर वनायेंगे। अभी तो वहाँ जाकर खेलेगे और मजा करेंगे।" पहले से ही मैंने इस धरती पर उतरे हुए सूरज का किस्सा सुना दिया। वालक, जिनमे से अधिक ने वह खेत नही देखा था, उत्सुक हो उठे। हम कूदते-खेलते खेत मे पहुँचे। दूर से ही सूर्यमुखी का खेत आवाहन करने लगा। वच्चों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे वंदरो की तरह खेत में

घुस गये। आधा घटा हम वहाँ रहे। समय हुआ, वापस वर्ग मे आ गये। मैने केवल एक ही वाक्य कहा : "कुछ भी चित्र वनाओ, किन्तु ऐसी चीज का वनाओ, जिसको देखकर तुम्हारा मन कभी खूव आनन्दित हुआ हो।" कइयो ने सूर्यमुखी के चित्र वनाये। उनमे से वह वालक भी था। उस दिन उस वालक का हृदय खुला। उसे शायद अनेक दिनों के वाद 'दीखा' कि उसके 'रास्तेवाले मकान' को छोडकर दुनिया मे और भी कुछ है।

इसका अर्थ यह है कि यह वार-वार एक ही चित्र वनाने की जो समस्या है, वह केवल कला-शिक्षा की समस्या नही, वल्कि आम शिक्षा की समस्या है। शिक्षक इसे निमित्त वनाकर इससे लाभ भी उठा सकता है और वालक की कल्पना-शक्ति भी जगा सकता है।

## तरह-तरह के माध्यम जरूरी

उपलब्ध साधनों मे चुनाव के अभाव के कारण भी कुछ रुकावटें आ जाती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि साधन का चुनाव व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर करता है। एक ही माध्यम मे हमेशा ही अपने भावो का प्रकटन करते रहने मे वालक अरुचि महसूस करने लगते है। वच्चे हमेशा नवीनता चाहते है और उन्हे जो नये-नये अनुभव मिलते रहते है, उनका प्रकटन हमेशा एक ही माध्यम द्वारा नये-नये ढग से हो नही सकता। इसलिए भी आत्म-प्रकटन के लिए माध्यम वदल-वदल कर काम करना जरूरी होता है। यही कारण है—जो पहले ही कहा गया है—कि शाला मे आत्म-प्रकटन के लिए तरह-तरह के माध्यम रहने चाहिए। इससे वच्चे अपनी भावनाओ को जव जिस साधन से चाहे, प्रकट कर सकेंगे। चित्र पानी के रग से न वनाकर सूखे रग से या पेपरकट या लीनो-कट, वुड-कट आदि से वनाने की छूट और उन माध्यमो का इन्तजाम होना चाहिए। यह जरूरी नही कि वच्चे हमेशा कागज पर ही चित्र वनाये। अगर शाला मे मिट्टी की मूर्ति वनाने का इन्तजाम होगा, तो वालको को मूर्तियाँ वनाने की प्रेरणा भी मिलेगी।

जहाँ मिट्टी के बर्तन चाक पर या सीधे हाथ से बनाने के साधन और उसकी शिक्षा का इन्तजाम होता है, वहाँ बच्चे उसमें भी खूब रुचि लेते है।

बालक की कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहन देने के लिए निम्नलिखित पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है।

## कहानी-चित्रण

बच्चों की पूरी टोली को कोई सरल कहानी सुनाना और उसके बाद उस कहानी का चित्रण करने को कहना। कहानी बालक स्वयं भी सुना सकते है। ऐसा भी हो सकता है कि दो-तीन बालक अलग-अलग कहानियाँ सुनाये और टोली उनमें से एक कहानी चित्रण करने के लिए चुन ले। इस पद्धति से बालकों की कल्पना-शक्ति को व्यायाम मिलेगा। जिन्हे कोई विपय नही सूझ रहा हो, उन्हें विषय मिलेगा।

इसीको और भी असरदार बनाया जा सकता है। शिक्षक बालकों को सरल सुन्दर ढंग से बैठाये और उनसे आँख मूँदकर दो मिनट शान्त रहने को कहे। जब बालक शान्ति से आँख बद कर ले, तो वह उन्हें कोई कहानी या अपना कोई अनुभव इस प्रकार वर्णन करके कहे कि वह दृश्य उनके सामने सिनेमा की भाँति चलने लगे। अपने अनुभवो में आकारों का विस्तृत वर्णन करे, रंगो को सादृश्य के साथ बताये। गभीर आवाज मे कभी अभिनय के ढग से भावना के साथ वर्णन करने से बालको के मन मे चित्र खिंच जाता है। कल्पना दौड़ने लगती है।

## चित्रों के लिए विषय

चित्रण के लिए दूसरे प्रकार के विषय भी दिये जा सकते हैं ( चित्र-संख्या २५ और ३७ )।

उदाहरणार्थ :

१. तुम अपने माता-पिता के साथ सैर के लिए जा रहे हो।
२. अपने छोटे भाई या बहन को स्कूल ला रहे हो।

३. सारा परिवार मिलकर खेत में धान लगा रहा है।
४. गाँव के एक उत्सव मे तुमने क्या हिस्सा लिया ?
५. तुम अकेले प्रकृति-दर्शन के लिए गये और तुम्हें वहाँ सबसे अच्छा क्या अनुभव हुआ ?
६. तुम्हारे गाँव के अखाड़े में कुश्ती का खेल।
७. पिछले हाट-बाजार मे क्या सबसे अच्छा लगा ?
८. शाला मे सामूहिक सफाई का काम।
९. तुम अपनी टोली के साथ सैर मे जा रहे हो।
१०. तुम अपनी शाला का मकान उत्सव के लिए सजा रहे हो।
११. उस दिन जो नट का खेल हुआ।
१२. शाला की बाल-सभा में तुम भाषण कर रहे हो।

इस प्रकार के अनेक विषयो को मौका देखकर इस्तेमाल किया जा सकता है।

एक बार का अनुभव है कि चौथा वर्ग मेरे पास चित्र-कला के लिए आया करता था। पाँच-छह बार ऐसा मौका हुआ कि जब भी उस वर्ग के बच्चे आते थे, तभी खूब वर्षा होती थी। एक दिन बालक वर्ग मे आते ही हँसी-मजाक मे कहने लगे कि ऐसा क्यो होता है ? मुझे सूझा और मैंने कहा : "वर्षा कहती है कि तुम लोग इतनी बार चित्रकला-वर्ग मे आते हो, सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाते हो, किन्तु मेरा क्यो नही बनाते। जब तक नही बनाओगे, मै तुम्हे भिगाती ही रहूँगी।" सब बालको ने उत्साह के साथ कहा : "अच्छा, हम वर्षा का ही चित्र बनायेगे।" हमने चित्र का विषय रखा : 'वर्षा का एक दिन' ( चित्र-सख्या २५ )।

इस पद्धति मे एक बात ध्यान रखने की है। चाहे कितनी भी कुशलता के साथ चुनाव किया जाय, उसी विषय का चित्र बनाना है, इसका आग्रह कदापि नही किया जाना चाहिए। हो सकता है कि टोली के कुछ बालक कुछ और ही चित्र बनाये। शिक्षक ने विषय चुनने में मदद की और उसके लिए आवश्यक भूमिका तैयार कर दी, तो बस है। जोर देने से बालको की रुचि नष्ट हो सकती है।

कभी-कभी एक ही विषय के अलग-अलग पहलुओं पर टोली के वालक अलग-अलग चित्र वना सकते हैं। अगर एक लम्बी कहानी है, तो जितने वालक हों, उतने चित्र वनाकर पूरी कहानी चित्रित की जा सकती है। यह एक सपूर्ण प्रोजेक्ट हो सकला हैं। पुस्तक वनाने के एक प्रयोग का जिक्र 'वच्चो की नजर से' शीर्षकवाले अध्याय मे किया गया हैं। सामूहिक कार्य का यह एक वहुत अच्छा तरीका है। जो चित्र वनाना चाहे, वे चित्र वनायें, कुछ सुन्दर ढग से कहानी या लेख जो कुछ भी हो लिखे, कुछ पुस्तक की जिल्द वनाये। इस प्रकार शाला के समग्र जीवन के साथ चित्रकला-प्रवृत्ति का सुन्दर मेल वैठ सकता है। भाषा, समाजशास्त्र आदि सभी विषय आ जाते है। यहाँ तक होना चाहिए कि जो काम वर्ग में हो रहा हो, उसके साथ पूरा-पूरा समन्वित कार्यक्रम अनेक मौको पर वनाया जाय।

सामूहिक कार्यो मे एक पद्धति हमने अनेक वार इस्तेमाल की है। उससे खूव लाभ हुआ है। वालको को भी वह वड़ी रुचिकर लगती है। एक खूव वड़े कागज पर सारी टोली मिलकर एक चित्र वनाती है। चित्र क्या वनेगा, किसीको कल्पना भी नही होती। क्रम से वालक एक-एक करके आते है और रंग से भरी कूंची एक वार कागज पर रखकर जो कुछ खीच सके, खीचते है। रंग जो उन्हें पसद आये, ले सकते है। कूंची भी पतली, मोटी—हर तरह की रखी जाती है। परन्तु एक वार हाथ उठ गया, तो फिर व्रश रख देना पडता है। सभी वालकों की चेष्टा यह रहती है कि चित्र कुछ आकार ले ले, इसलिए अधिक कल्पनाशील वालक चित्र को रुख देने का काम करते है। कुछ देर मे जव चित्र मे कुछ वन जाता है, तो सभी एक-एक टच ( कूंची का एक दाग ) देकर चित्र पूरा करते है। इसमें शिक्षक भी हिस्सा ले, तो अच्छा होता है।

चित्र वनाना तो होता ही है, परन्तु सव मिलकर एक ही नमूने पर आखिर पहुँचें, यह सवकी चेष्टा रहती है, जो वडी वात है। हरएक के मन में तरह-तरह की कल्पना रहते हुए भी आखिर एक ही चित्र वनता

है। इस प्रयोग की यही विशेषता है। चित्र सवने मिलकर वनाया, यह भी वालको के लिए वडे गर्व की वात होती है।

## समालोचना

अगर शिक्षक समालोचना करेगा, तो वालक पर दवाव पडेगा। परन्तु अगर वालक स्वय आपस मे एक-दूसरे के चित्रो की समालोचना करेंगे, तो उससे वे खूब सीख सकते है। आपस मे सामुदायिक ढग से समालोचना खूव काटनेवाली होने के वावजूद वह न्यूनतम भाव ( इन्फीरीयोरिटी काम्प्लेक्स ) नही देगी। वर्ग के अन्त के दस मिनटो मे वालको को अपने-अपने चित्र दीवार पर ठीक क्रम से और सजाकर लगा देने के लिए कहा जाय। एक-एक करके सभी अपना-अपना मतव्य हर चित्र के वारे मे दे। इससे चित्रकार अपनी गलतियो को समझेगा। वालक वालक की दृष्टि से समालोचना करेंगे, इसलिए वह अधिक स्वाभाविक होगी।

## कला-वर्ग और समय-पत्रक

शाला में चित्र-कला आदि का कार्यक्रम आम तौर पर दो प्रकार स नियोजित किया जायगा। एक तो चित्रकला का निश्चित समय हो, यानी वच्चो को हफ्ते मे अमुक परिमाण में कला-प्रवृत्तियो के लिए समय मिले। दूसरा यह कि वच्चे जव भी कला-प्रवृत्तियो मे भाग लेना चाहे, उन्हें कला-वर्ग मे जाने की छूट हो। इस प्रकार आम तौर पर वालको के मन मे जब वे कला का काम करने जाते है, तो एक योजना रहती ही है। अगर शाला मे कई प्रवृत्तियो के लिए इन्तजाम होता है, तो मन की यह योजना वनते समय अमुक माध्यम से काम करूँगा, यह भी निश्चित हो जाता है।

हमारे पास जव वालक आते है, तो स्वय ही सव अपना-अपना काम चुन लेते है। कभी एक वालक वडा चित्र पानी के रग से वनाता है, तो अगले वर्ग मे वह मिट्टी के वर्तन वनाने का काम ले लेता है। इस तरह वच्चो को दो-तीन तरह के रगो से, लीनो या काठ कटाई से,

स्टेंसिल, पेपर-कट से चित्र वनाना, मिट्टी के वर्तन चाक पर या वत्ती-पद्धति से या मिट्टी से मूर्ति वनाना, अल्पना करना आदि कई माध्यमो से किसीमे भी काम करने की गुजाइश रहती है। ऐसा होने से एक ही माध्यम को हमेशा इस्तेमाल करने के कारण कल्पना-शक्ति के विकास मे जो रुकावट आ जाती है, वह नही आयेगी।

## कागज़ का नाप

वालकों का नवीनता की तरफ खूव ध्यान रहता है। एक छोटी-सी वात है, किन्तु वह शिक्षक को वालकों मे रुचि पैदा करने मे मदद कर सकती है। जिन कागजों को चित्र के लिए इस्तेमाल किया जाता है, उन्हे शिक्षक आम तौर पर एक साइज का काटकर रख देते है। इससे नये चित्र के लिए छोटा या वड़ा, चौकोन या लम्वाकार आदि चुनाव करने के लिए वालकों को कोई गुंजाइश नहीं रहती। हमेशा वही साइज़ और उसी परिमाण का चित्र वनाने मे मजा नही आता। इसलिए वच्चो को चित्र वनाने के लिए कागज अलग-अलग साइज़ और परिमाण के होने चाहिए। जव वे कागज लेना चाहे, तो किस साइज का और किस परिमाण का लेना है, यह वे स्वयं निश्चित करे।

शिक्षक को यह खयाल रखना पडेगा कि कोई वालक ऐसा तो नही है, जो हमेशा छोटे-छोटे कागज ही लेता है। अगर कोई ऐसा हो, तो उसे वड़े शीट लेने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। आजकल इस क्षेत्र मे काम करनेवाले सभी शिक्षक और विशेपज्ञ यही कहते है कि वालको को वडे-वड़े चित्र वनाने की आदत डालनी चाहिए। इसका कारण है कि वडी ड्रॉइग वनाने में हाथ खोलकर नि संकोच काम करना पडता है। इससे वालक का हाथ भी सुधरता है और अन्दर का सकोच भी चला जाता है। साथ ही उससे चित्र मे जिस देश-विन्यास के वोध की आवश्यकता होती है, उसका विकास होता है।

वड़े-वडे कागज इस्तेमाल करने मे जो सवसे वडी समस्या आती है, वह है कागज की कीमत। हमारे देश के एकआध स्कूलो को छोड़कर

शायद ही कोई स्कूल होगा, जो इतना आर्थिक भार उठा सके। किन्तु हम यहाँ इस बात का विशेष तौर पर खुलासा करना चाहते हैं कि यह जरूरी नही है कि बच्चों को कीमती कागज दिये जायें। हमने तो देखा है कि पुराने अखबार इसके लिए बहुत उपयोगी होते हैं। अखबारो की ऐसी शीट लेनी चाहिए, जिन पर कोई फोटो या विशेष दीखनेवाला विज्ञापन न हो। ऐसे अखबार पर बड़े-बड़े ब्रश से सुन्दर चित्र बन सकते हैं। इससे यह खयाल नही होना चाहिए कि ऐसा करने में कुछ हलकापन है। कभी-कभी अगर आर्थिक सम्भावना हो, तो न्यूजप्रिंट का कागज, जो खूब सस्ता होता है, बालको को चित्र बनाने के लिए देना अच्छा होगा।

बडे चित्र बनाने के बारे में एक और बात है। यह विचार कि 'बालको का हाथ खुले और सकोच खतम हो', यूरोप आदि देशो में जनमा। इसका कारण यह है कि बालको को वहाँ इस तरह 'हाथ खोलकर' ड्रॉइंग आदि करने का मौका कम मिलता था। किन्तु हमारे देश मे जो राँगोली और अल्पना की परम्परा है, उससे यह प्रश्न स्वयं ही काफी हद तक हल हो जाता है। फर्श पर खूब बड़ी-बडी अल्पना करते समय ऐसे ढंग से हाथ चलता है, जो बडे-से-बडे कागज पर भी नही चल सकता। इसलिए हमे इस बात पर इतना जोर देने की आवश्यकता नही, जितना दूसरे देशो मे लोग देते है। फिर भी इसका महत्त्व कम है, ऐसी बात नही। बल्कि यह खयाल रहना चाहिए कि कागज जितना भी हो सके, बडा दिया जाय, क्योकि आदमी, जानवर और दृश्य आदि के चित्र भी खुलकर बनाने चाहिए। तभी तो देश के बोध का विकास होगा।

## कागज़ की लम्बाई-चौड़ाई

देश-बोध के लिए कागज़ की लम्बाई-चौडाई मे विविधता का होना बडा जरूरी है। चित्रो को तरह-तरह के परिमाण की भूमि पर बनाने से ही देश-सयोजन की नयी-नयी समस्याओ का सामना करने से उसका ठीक विकास होता है। मुझे एक बार छापाखाने से कागज के लम्बे-लम्बे कुछ टुकडे मिल गये थे। उन्हे लाकर कला-भवन में बालको के उपयोग

के लिए रख दिया। उसे देखते ही एक वालक को लम्वी रेलगाड़ी वनाने की वात सूझी। उसने गाडी का इजन और दो डिव्वे वनाये। और वच्चों ने भी ऐसा ही अनुभव लिया और एक दिन तो देखा कि एक वालक ६-७ टुकड़ों को लम्वाई मे चिपकाकर जोडे जा रहा है। सारा समय वैठकर उसने एक ९-१० फुट लम्वी रेलगाड़ी वनायी। साधन की विविधता के कारण प्रेरणा भी विविध प्रकारो और विविध रास्तो से आती है। शिक्षक को इससे फायदा उठाना चाहिए।

## पर्सपेक्टिव का प्रश्न

वास्तविकता-परिचय-काल के अन्त के समय ऐसी एक अवस्था आती है, जव कि वालक को अपने चित्रो मे गहराई का भान देने की जरूरत होती है। तव उसे वस्तुओं को केवल लम्वाई और चौडाई मे ही वैठाने से सन्तोप नही होता, वल्कि गहराई मे भी वस्तुएँ वैठायी जानी चाहिए, इसका वोध होने लगता है। काफी वालक तो ऐसे होते है, जो अगर वातावरण ठीक रहा, तो इस परिस्थिति का मुकावला अपने-आप कर लेते है ( चित्र-संख्या २५ और रंगीन सात )। किन्तु कुछ वालको को इस समय 'मदद' की जरूरत महसूस होती है। अगर इस समय उचित मदद न मिले, तो सम्भव है, वालक हताश हो जाय और चित्र-कला की प्रवृत्ति मे अरुचि महसूस करने लगे। ऐसे मौके पर निरीक्षण करने की शक्ति को सूक्ष्मता के साथ वढ़ाने का मौका मिलना चाहिए।

वालक आकर कहता है कि उसे वगलवाली दीवार तो दीखती है, लेकिन चित्र मे कैसे वनाये, यह नही जानता या फिर कहता है: "यह तो ऐसा लगता है कि पहाड पेड के ऊपर है, वह तो सचमुच पेड़ के पीछे है। कैसे वनाऊँ?" ऐसे मौके पर शिक्षक क्या करे? क्या वालक को चित्र वनाकर दिखाये या उसे उस तरह के 'पर्सपेक्टिव' वाले चित्र दिखा दे? ये सव वाते वालक को कमजोर वना देनेवाली होती है। उसे तो परिस्थिति का मुकावला करनेवाला वनना है। इसलिए हमारा काम है कि उसकी निरीक्षण-शक्ति और उसके मानसिक तर्कवाद को विकसित

करने की पद्धति उसे दिखाये। चित्र बनाना नही, बल्कि चित्र बनाते समय जो समस्याएँ आती है, उन्हे हल करने के लिए निरीक्षण के द्वारा परिप्रेक्षण के प्राथमिक सिद्धान्त को स्वय ही ढूंढ लेने की कोशिश करनी चाहिए।

आम तौर पर १२-१३ साल की आयु मे जब इस पहलू पर कुछ मार्गदर्शन की आवश्यकता हो, तो परिप्रेक्षण के सरल नियमो का परिचय दिया जा सकता है, किन्तु ऐसे ही वालक को, जो स्वयं उसकी आवश्यकता महसूस करे। कोई चीज पास होती है, तो वडी दीखती है और अगर वह दूर चली जाती है, तो छोटी दीखने लगती है। जैसे—रेल की पटरी। दो पटरियो के वीच खडे होकर अगर दूर देखा जाय, तो ऐसा दीखता है कि दोनो पटरियाँ आपस मे मिल जाती है। सड़क के किनारे के दूरवाले पेड छोटे दीखते है। ऐसे कई प्रसगो पर इस नियम का परिचय होता है। कभी-कभी वालक किसी चौकोनी वस्तु के चित्र मे गहराई दिखाना चाहता है, तो वाजूवाली दीवारो को टेढा वनाता है। जव तक इस तरह का चित्र वनाने मे वालक को सकोच नही होता, तव तक तो मानना चाहिए कि उसकी अभी तक वह अवस्था नही आयी, जव कि वह इसे 'गलती' समझने लगे। किन्तु यह खयाल हो जाने के समय कि चित्र ठीक नही बन रहा है, उसे इस नियम की आवश्यकता महसूस होने लगती है। चौकोनी चीजे, जैसे—मकान, पेटी, आलमारी आदि जव समतल स्थान पर सीधी खडी हो, तो उनके कोने, चाहे उन्हे किसी भी कोण से देखा जाय, भूमि पर लम्ब वनाते हुए ही दीखेंगे।

वालक जब चाक्षुप अनुभवों को चित्र मे दरसाना चाहता है, तो उसे इस तरह के नियमो को वडी सरलता के साथ वताना चाहिए। यह आम तौर पर १२-१३ वर्ष की आयु से पहले जरूरी नही होता। कुछ ऐसे वच्चे होगे, जो विना पर्सपेक्टिव के वोध के चित्र वनाना चालू रखेगे। यह अच्छा लक्षण है, क्योकि सच्ची कला के लिए पर्सपेक्टिव की कोई आवश्यकता नही पडती। इसके वारे मे शिल्प-गुरु नन्दलाल वसु ने कहा है: "परिप्रेक्षित विज्ञानसम्मत नियम का उल्लघन करके भी

प्राच्य और प्रतीच्य में उच्च कोटि के शिल्प का सर्जन हुआ है, जो स्वतः प्रमाणित है; इसका कारण संक्षेप में कहा जा सकता है कि उन क्षेत्रो मे विपय के साथ विपयी का अर्थात् शिल्प की विपय-वस्तु के साथ शिल्पी का एकात्म-वोध हो गया है।"*

## क्राफ्ट का काम

क्राफ्ट का वड़ा महत्त्व है। कुछ बच्चों की रुझान दस्तकारी की तरफ अधिक होती है। ८-९ साल की उम्र मे ही उन्हे ऐसी प्रवृत्तियाँ देने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनके द्वारा चित्रकला के साथ-साथ दस्तकारी की रुचि को भी आत्म-प्रकटन का मौका मिले। और चीजो के साथ-साथ लीनो कटाई, काठ कटाई और रगीन कागज काटकर या हाथ से फाड़कर चित्र वनाने की प्रक्रिया मे चित्रकला और दस्तकारी दोनों का काम वड़ी सरलतापूर्वक हो जाता है। इतना ही नही, इस तरह के साधनो और पद्धति के द्वारा बच्चों का आकार-वोध भी स्पप्ट होने लगता है (देखिये, लीनो प्रिण्ट, चित्र-सख्या ३२, ४६ और ४८)।

कुछ और वड़ा होने पर, जव कि वालक वास्तविकता-प्रधान अवस्था मे आ जाता है, तव दूसरी दस्तकारियों द्वारा सृजनात्मक प्रवृत्ति दी जानी चाहिए। जव कि वच्चे के मन में ड्राइंग और पेन्टिग के वारे मे थोड़ा संकोच पैदा होने की सम्भावना होती है, वल्कि कुछ वच्चे तो जैसा कि जिक्र किया जा चुका है, उसमें रुचि लेना वन्द कर देते है, उस समय दस्तकारियो द्वारा वालक की सृजनात्मकता को प्रकट होने में मदद होती है। वह कोई भी दस्तकारी हो सकती है, पर उसके पीछे दृष्टि कलात्मक हो और वह वालक की अपनी रुचि द्वारा चुनी गयी हो।

## भांत वनाने का महत्त्व

जीवन की हर चीज़ में आलंकारिक भात का इतना स्थान है कि उसे भूलना या इच्छा करके छोड़ना असम्भव है। हर वस्तु में डिज़ाइन

---

* शिल्प-कथा, पृष्ठ १४।

का प्रश्न आता है। डिजाइन मे सन्तुलन, समिति ( सिमिट्री ) आदि का सवाल आता है। चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी कलाओ में सन्तुलन के बारे मे भान होना अत्यन्त आवश्यक होता है। दस्तकारी मे भी भात का बडा महत्त्व है। आर० आर० टामलिनसन अपनी पुस्तक 'पिक्चर एण्ड पैटर्न मेकिंग बाइ चिल्ड्रन' मे भाँत ( पेटर्न ) के बारे मे लिखते है :

"सबसे अभिलक्ष्य विकास, जो स्कूल मे कला-शिक्षा के हाल के वर्षों मे हुआ है, वह भात ( पेटर्न ) सिखाने के बारे मे है। भात निकालना ( पेटर्न मेकिंग ) आत्म-प्रकटन का एक स्वरूप है और उसका महत्त्व चित्र बनाने मे डिज़ाइन के साथ है। भात निकालना कुछ व्यक्तियो के लिए चित्र द्वारा प्रकटन ( विजुअल एक्सप्रेशन ) करने की पूर्वी कला की अनेक शैलियो की तरह स्वय मे एक सपूर्ण भाषा हो सकती है।.... भांत बनाने के लिए जिस बोध का हमारी शालाओ मे ( इग्लैंड में ) विकास हो रहा है, उसका बच्चो के चित्र बनाने की शक्तियो पर बडा लाभप्रद असर पड़ा है। इससे बालको और किशोरो मे चित्रबोध का निर्माण होगा और उसकी पुष्टि होगी ..।"

इस दृष्टि से हमारा देश बडा भाग्यवान् है। हिन्दुस्तान के लगभग हर प्रदेश मे किसी-न-किसी आलकारिक सजावट की परम्परा है—बगाल, बिहार, उडीसा आदि में अल्पना, उत्तर प्रदेश, राजस्थान मे माड़नी, दक्षिण मे राँगोली, मुग्गू और कोलम्। हमारे ग्रामीण जीवन मे अभी भी अच्छे परिमाण मे भात का महत्त्व है। उसका लाभ बालको को पूरा-पूरा मिलना चाहिए। बालक पारम्पारिक अल्पना, राँगोली आदि तो करेगे ही, पर उन्हे अपने मन से नये-नये भात डालने की वृत्ति देनी चाहिए। नये सन्दर्भ मे नये-नये आकारो का उपयोग किया जाना चाहिए। प्रकृति से खोजकर आलकारिक आकारो का निर्माण करना एक उद्देश्य होना चाहिए। एक पत्ता एक पेड का और दूसरा दूसरे पेड का लें, उसे दोहरा कर अच्छे किनारे बनते है। जीवन की और प्रवृत्तियो के साथ इसका अच्छा-खासा योग है। बुनाई के लिए, लकड़ी-खुदाई आदि के लिए उसकी जरूरत पड़ती है। शिक्षक को अपने मे इस दृष्टि का विकास करना

चाहिए। उत्सवो की सजावट के समय हम इस प्रकार की सजावट खूब कर सकते है। मैदान में, जहाँ जमीन पर अल्पना नही कर सकते, वहाँ तरह-तरह की रंगीन मिट्टी, चूना, रेती, कोयले का चूरा, लाल रेती और पत्तों, फूलो तथा फूलों की पँखड़ियों से सजा-सजाकर वड़े सुन्दर भांत वनाते है।

भांत वनाने के सिद्धान्तों का अध्ययन शिक्षक को केवल शिक्षा-क्रम तैयार करने मे मदद नही करता, वल्कि उसे कला-प्रवृत्तियों को समझने में मदद करता है। ये सिद्धान्त प्रकृति मे से खोजकर निकाले गये होते है। जिस प्रकार भाषा मे व्याकरण का स्थान होता है, उसी तरह कला में डिजाइन, भांत आदि के सिद्धान्तो का होता है। टामलिनसन उसी पुस्तक में इस तरह के नौ सिद्धान्तो का जिक्र करते है, पर हम उनमे से अत्यन्त आवश्यक दो-तीन का यहाँ जिक्र करेंगे।

भांत मे कुछ छद और पुनरावृत्ति का महत्त्व होता है। किनारों आदि मे पुनरावृत्ति अधिक होती है। जहाँ भात-संमिति ( सिमिट्री ) अधिक होती है, वहाँ पुनरावृत्ति का स्थान अधिक है। जहाँ 'रेपीटीशन' (पुनरावृत्ति ) कम होता है, वहाँ छन्द का महत्त्व है। जैसे संगीत मे वार-वार सम आकर पड़ता है, वैसे ही आलंकारिक चित्र-कला का छन्द होता है। वालकों को तरह-तरह के भांत वनाने पर इसका भान हो सकता है।

इस अभ्यास के लिए तरह-तरह के माध्यम इस्तेमाल किये जा सकते है। कागज़ पर या टीन पर आकार काटकर उन्हे स्टेसिल-छपाई-पद्धति से छापकर किनारों, पल्लों और फर्श आदि के भात तैयार किये जाते है। छोटे वच्चो के लिए अति सरल और कलात्मकता का विकास करनेवाला एक तरीका आलू काटकर व्लाक तैयार करने का है ( चित्र-संख्या, ४२ )। इसे 'पोटेटो-प्रिण्टिग' कहते है। वालक आलू को आधा-आधा काटकर सुन्दर व्लाक तैयार कर लेते है और एक कपडे का पैड वनाकर उसमे रंग डालकर 'स्टाम्प-पैड' की तरह कागज़ पर अलग-अलग क्रम से छाप सकते है।

दूसरा सिद्धान्त भात के देश-विन्यास का होता है। इसमें भांत

की छुटी जगह और उस पर वनाये गये आकारों का आपसी सम्बन्ध चरित्र और परिमाण का होता है। ऐसा कभी नही हो सकता कि एक हिस्सा तो प्राकृतिक आकार से और दूसरा आलकारिक आकार से वना है। इसके सिलसिले मे सामजस्य का होना अत्यन्त आवश्यक है, यानी भात के आकारो का चरित्र एक ही हो।

इसी तरह आकार और देश का प्रश्न है, दोनों मे सामजस्य चाहिए। दोनो का आपसी सम्वन्ध आँखो को और फलत. मन को अच्छा लगने-वाला होना चाहिए।

तीसरा सिद्धान्त, जो शिक्षक के मन मे स्पष्ट होना चाहिए, वह है अनुकूलता का। भात जिस उपयोग के लिए वने, वह उसके लिए अनुकूल हो। अगर वालक फर्श के किनारे पर अल्पना करना चाहता है, तो अल्पना किनारे की और जिस माध्यम से वह वना रहा है, उसके अनुकूल वने। राँगोली की डिजाइन अल्पना मे नही हो सकती। साड़ी के पल्ले के लिए जो भात वनेगी, वह कमीज के कपडे के लिए लागू नही हो सकती। लकडी पर खुदाई करने के लिए जो भात होगी, वह छपाई करने के लिए अनुकूल नही हो सकती। इस तरह यह अनुकूलता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इन सव सिद्धान्तों को समझने के लिए शिक्षक को खूब अध्ययन करने की आवश्यकता होती है—खास तौर पर उनको, जो किशोर-अवस्था के वालको के शिक्षक हो।

भांत के ऊपर और भी अधिक जोर आज इसलिए देना है कि हमारी शिक्षा की सव प्रवृत्तियो और उद्योगो में भांत—डिजाइन की आवश्यकता पडती है। उसे अनदेखा या टाला नही जा सकता। जो कला-शिक्षक इस पहलू की अवहेलना करेंगे, वे कला के महत्व को समझते है, यह नही कहा जा सकता।

### क्लास-रूम

आदर्श तो 'यह होगा कि शाला मे चित्र-कला, मूर्ति-कला

आदि के लिए एक अच्छा कमरा खूब रोशनीवाला रहे। पर गाँवों की अनेक शालाएँ ऐसी होती है, जिनमें पूरी-पूरी कक्षाओं के लिए भी कमरे नहीं होते। ऐसी हालत मे किसी एक कमरे को या जहाँ एक ही कमरा हो, उसे ही, ऐसा व्यवस्थित करके रखना चाहिए कि बालको को काम करने की प्रेरणा मिले। कमरे की दीवारो पर बालकों के बनाये हुए नये-नये चित्र लगे हों और नये चित्र बनते ही वे बदल दिये जायँ। प्रदर्शनी सजाने का यह काम बालक स्वयं ही करें। दीवार पर बाँस की चटाइयो या और कुछ ऐसी स्क्रीने ( चटाइयाँ फ्रेम में लगाकर ) लगी हो, जिन पर साधारण बबूल के काँटों से चित्र लगाये जा सके। इससे चित्र में छिद्र नही पड़ते और बिना एक कौड़ी खर्च किये हुए चित्रों के लिए ऊँची रुचि की पृष्ठभूमि ( बेकग्राउण्ड ) तैयार हो जाती है। मामूली खजूर की चटाई और बाँस की फ्रेम से सुन्दर काम होता है। बालक आसानी से उन पर अपने चित्र लगा सकते है। चित्र लगाने में संमिति, सन्तुलन आदि—कौनसा चित्र कहाँ, किस चित्र के साथ लगाना, इस सबका अभ्यास होता है। दीवारों पर बच्चों के अपने चित्र व्यवस्थित लगे रहें, तो उन्हें उत्साह मिलता है।

कमरे के एक तरफ चित्रकला का स्थान खूब सजा हुआ होना चाहिए। रंग, कूँची आदि साफ-सुथरे, सजे हुए होने चाहिए। साधन तैयार है, ऐसे सजे हो, तो बालक को आह्वान देते हुए दिखाई देते है। बालक भी ऐसी हालत मे आह्वान लेता है और हमेशा चित्र बनाने के लिए प्रस्तुत रहता है।

शिक्षक का काम है, बीच-बीच में दीवारों पर दूसरी जगह के बच्चो और अन्य कला-कृतियों के नमूने लगाकर प्रदर्शनी सजाना। इससे बालकों को हमेशा नयी-नयी प्रेरणा मिलती रहती है। सारांश यह कि जितना शिक्षक का महत्त्व होता है, उतना ही स्थान और स्थान के वातावरण का होता है। अगर वातावरण ठीक होता है, तो शिक्षा भी अच्छी होती है। शिक्षक और वातावरणवाले अध्याय में हम काफी

विस्तार से कह चुके है कि वातावरण तैयार करना शिक्षक का काम है, उसी पर शिक्षा का दारोमदार होता है।

## बालकों का मनोवैज्ञानिक प्रकार

सामान्य तौर पर दिये गये सुझाव और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर वालको की कला-शिक्षा का कार्यक्रम चल जायगा। आम शिक्षक उतना भी कर ले, तो वालको को काफी आनद और तृप्ति का अनुभव दे सकेंगे। किन्तु गहराई से अध्ययन करते रहने से शिक्षक अपने काम मे वैज्ञानिकता ला सकता है। शिक्षा-शास्त्र का एक सिद्धात है कि प्रकृतिजन्य व्यक्तिगत अभिरुचियाँ होती है। उनके अनुसार मनुष्यो के 'प्रकार' होते है। शिक्षा की योजना उन 'प्रकारो' का ध्यान रखकर करनी चाहिए। अगर एक व्यक्ति 'साहित्यिक प्रकार' का है, तो उसकी शिक्षा की योजना भी उसी आधार पर बननी चाहिए। कुछ लोग 'टेकनिकल प्रकार' के या 'दस्तकार प्रकार' के हो और उन्हे 'साहित्यिक प्रकार' के व्यक्तियो के लिए जो शिक्षा का ढाँचा होगा, उसमे डाल दिया जाय, तो उनकी शक्तियो का सपूर्ण विकास नही हो सकेगा।

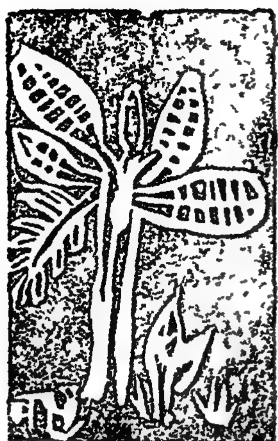
इसी तरह मनोवैज्ञानिक कई प्रकार से वर्गीकरण करते है। शिक्षको को इस वर्गीकरण से लाभ उठाना चाहिए। अगर शिक्षक वालक का मनोवैज्ञानिक प्रकार समझ लेता है, तो उससे उसके काम को समझने और मार्गदर्शन करने मे सुविधा होती है। शिक्षक अगर मनोवैज्ञानिक प्रकारो का महत्त्व समझ लेता है, तो उसे वालक की शक्ति और उसके काम की दिशा दीखने लगती है। साथ ही वालक के लिए उसके मन मे सवेदना भी उत्पन्न हो सकती है। क्योकि वह समझ लेगा कि अमुक वालक अमुक 'प्रकार' का है, तो उससे किसी दूसरे मनोवैज्ञानिक प्रकार के काम की अपेक्षा करना अनुचित होगा। यह विषय गहरा है। इसका विस्तार यहाँ करने की आवश्यकता नही है। जो शिक्षक इसका विशेष अध्ययन करना चाहते है, उन्हे परिशिष्ट—सहायक ग्रन्थ मे दी गयी पुस्तको में काफी सामग्री मिल सकती है।

## बालकों के चित्रों का रेकार्ड रखना

अपने काम मे शास्त्रीयता लाने के लिए शिक्षको को एक और काम करना चाहिए। वालको के चित्रो का रेकार्ड नियमित रूप से रखा जाना चाहिए। प्रारम्भिक चित्रो से लेकर जव तक वालक शाला मे रहें, उनके चित्रो मे से कुछ चुनकर नियमित फाइल मे रखे जायँ। हर चित्र के पीछे वालक का नाम, चित्र बनाने की तारीख, टोली का नवर और अगर हो सके, तो चित्र की क्रम-सख्या भी साफ अक्षरो मे लिखनी चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि एक बालक के चित्र एक साथ रखे जायँ, क्योकि एकआध साल के वाद वह छँटाई संभव नही होती। कुछ ही ऐसे शिक्षक होगे, जो उस काम को विशेष रुचि से कर सकेंगे। फाइलिंग का तरीका हर कोई अपने ढग से वना सकता है।

यह जरूरी है कि चित्रो का चुनाव ठीक हो, जिससे वाद मे वह केवल एक ढेर ही न वन जाय। अगर चित्र क्रमवार रखे होगे, तो कभी भी वालक की प्रगति का स्पष्ट दर्शन एक नजर मे ही हो जायगा। वालक स्वयं भी अपने पुराने चित्र देखना चाहते है। उससे उन्हे लाभ होता है। 'मै प्रगति कर रहा हूँ' या 'मै हमेशा एक ही प्रकार का चित्र वना रहा हूँ' यह जानकारी उसे स्वयं ही अपने चित्र-सग्रह को देखने से हो जायगी। अनेक मौकों पर प्रदर्शनियो मे चित्र रखने की आवश्यकता होती है। इसके लिए भी एक अच्छा सग्रह चाहिए। हमारे पास आज भी अनेक चित्र उन बालकों के है, जो अव सयाने और गृहस्थ हो गये है। जब वे उन चित्रो को देखते है, तो उन्हे बडा मजा आता है।

वालकों के चित्रो का विनिमय दूसरी शालाओ के वालकों के चित्रो से करने मे उन्हे उत्साह मिलता है। इस प्रकार के चित्र-विनिमय अगर शालाओं के वीच होते रहे, तो वंधुत्व भी कायम होगा, साथ ही बालको का कला-वोध भी विकसित होगा।



आठवाँ अध्याय

# कला-परिचय

"गानेर भीतर दिये यखन
देखि भूवनखानी
तखन तारे चिनि, आमि
तखन तारे जानी।"

—रवीन्द्रनाथ

कला-परिचय कला-शिक्षा का एक अग है। कला-परिचय का सामान्य अर्थ अपने देश की और अन्य देशो की कला-शैलियो से परिचय होना ही माना जाता है। परन्तु हम कला-परिचय में कला-वोध को केवल उतना ही नही, वल्कि अधिक महत्त्व का स्थान देते है। इसलिए प्रस्तुत चर्चा मे कला-वोध का निर्माण करने के लिए क्या कार्यक्रम वनाया जा सकता है और कला-शैलियो आदि का ज्ञान, इन दोनो मुद्दो का जिक्र करेगे।

कुछ उम्र होने पर, करीव-करीव किशोर-अवस्था तक पहुंचने के समय वालको को प्राचीन और आधुनिक कला से परिचय हो, यह जरूरी है। छोटी उम्र में न तो उन्हे उसकी आवश्यकता होती है और न उससे

---

लीनो प्रिण्ट ( ९ )—'केले का पेड', लडका, उम्र १४।

उनके अपने कला-विकास मे कोई लाभ ही होता है। हाँ, शायद कला-परिचय की दृष्टि से जरूर कुछ होता है। बच्चो की अपनी कला पर तो मैं सोचता हूँ, उससे अगर कुछ होता भी होगा, तो वह नुकसान ही होगा। हमने कहा ही है कि वालक पर प्रौढ की कला का प्रभाव अच्छा नही होता। परन्तु जव वालक किशोर-अवस्था के नजदीक पहुँचता है और उसे वड़ों की तरह काम करने की जरूरत महसूस होती है, तव उसे कला से परिचय कराना आवश्यक है।

यह परिचय दो प्रकार से होगा : मनुष्य का प्रकृति के साथ परिचय होना चाहिए। उसे प्रकृति के साथ एकरूपता का अनुभव होना चाहिए। इसलिए कला के माध्यम से प्रकृति तक पहुँचना और प्रकृति की मदद से कला को समझना, ये दोनो रास्ते हमे अपनाने होगे।

एक वात स्पष्ट करना चाहता हूँ। आम तौर पर जो 'आर्ट एप्रीसियेशन' और 'कला-इतिहास' का शिक्षा-क्रम होता है, उसमे केवल जानकारी की वात ही होती है। एक व्यक्ति भारतीय कला का इतिहास खूव वारीकी से जानता है, वह उस पर पाण्डित्यपूर्ण पुस्तके भी लिखता है। किन्तु जव वाजार मे चित्र खरीदने जाता है, तो वही कैलेण्डरवाली तसवीरे पसन्द करता है। राजपूत-शैली की हर तसवीर को देखते ही कह सकता है कि यह तो फलानी शैली या फलानी शताब्दी की है, परन्तु उसके वैठकखाने में वाज़ारू तसवीरे लगी होगी। ऐसे ज्ञान से कोई लाभ नही। हम तो कला-वोध चाहते है। सुन्दर और असुन्दर को समझने की विवेक-वुद्धि हो। वह पहली नजर मे ही अपने वोध के द्वारा अच्छी कला-कृति मे प्रवेश कर सके, ऐसी शक्ति का निर्माण करना है।

इस तरह की शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है, इसके वारे मे नया लिखने की आवश्यकता हमें महसूस नही होती। कला-गुरु नन्दलाल वसु ने इसके वारे मे अत्यन्त मूल्यवान् सुझाव रखे है। हम उन्हीके शब्दो को यहाँ उद्धृत करते है। यह उन्होने आज के विश्वविद्यालयो को ध्यान मे रखते हुए कहा था, पर हम अगर उन वातों को अपनीपरिस्थिति

और वातावरण मे लागू करे, तो इससे अधिक कोई सुझाव दिया नही जा सकता :

"पहली वात है, लडको के विद्यालयो, पुस्तकालयों, पढने और रहने के कमरो मे कुछ अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ और दूसरे चारु और कारु शिल्पो के नमूने ( नमूने न होने पर उनके अच्छे फोटो या प्रतिच्छवि ) सजाकर रखने होगे।

"दूसरी वात है, अच्छे-अच्छे शिल्प-निदर्शनो के चित्र और इतिहास की सहज ही समझ मे आनेवाली लडको के योग्य पुस्तकें उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा यथेष्ट परिमाण मे लिखानी होगी।

"तीसरी वात है, चित्रपट की सहायता से वीच-वीच मे स्वदेश और विदेश की चुनी हुई शिल्प-वस्तुओं से लडको को परिचय कराना होगा।

"चौथी वात है, वीच-वीच मे उपयुक्त शिक्षको के साथ जाकर लडके निकटस्थ जादूघरो ( सग्रहालयो ) और चित्र-शालाओ मे अतीत की शिल्पकीर्ति का निदर्शन देख आया करे। विद्यालयो से जव फुटवाल मैच खेलने जाने का कार्यक्रम हो सकता है, तो चित्र-शाला और जादूघर देख आना भी असम्भव नही होगा। इस वात को याद रखना होगा कि एक अच्छी शिल्प-वस्तु को अपनी आँखो से देखने और समझने से शिल्प-दृष्टि जितनी जाग्रत होती है, उतनी सौ भाषणो के सुनने से नही होती। छोटी वय से अच्छे चित्रों, मूर्तियो को देखते-देखते कुछ समझ-कर, कुछ विना समझे ही लडको की दृष्टि वनती रहेगी, अपने-आप ही उसमे शिल्प के भले-वुरे का विचार करने की शक्ति पैदा होगी और धीरे-धीरे सौन्दर्य-वोध जाग्रत होगा।

"पाँचवी वात है, प्रकृति से लडको का सम्वन्ध स्थापित कराने के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे भिन्न-भिन्न उत्सवो का आयोजन करना। उस आयोजन मे होगा—उन-उन ऋतुओ के फल-फूलो का सग्रह और शिल्प तथा काव्य मे उन ऋतुओ के सम्वन्ध मे जो सुन्दर रचनाएँ हुई है, उनसे यथासम्भव लडको का परिचय कराने की व्यवस्था।

"छठी वात है, प्रकृति में जो ऋतु-उत्सव हो रहे हैं, उनसे लडको का परिचय करा देना होगा। शरद् मे धान के खेत और कमल के वन, वसन्त मे पलास, सेम्भल के मेले की, जिसमे अपनी आँखों से देखकर आनद पा सकें, व्यवस्था करानी होगी। इन ऋतु-उत्सवो के लिए वन-भोजन और ऋतु-उपयोगी वेश-भूषा तथा खेल-कूद की व्यवस्था करनी होगी। प्रकृति से एक वार सम्वन्ध स्थापित हो जाने पर, उससे वास्तविक प्रेम करना सीख लेने पर लडको के हृदय मे रस का उद्गम फिर कभी नही सूखेगा, क्योंकि प्रकृति ही युग-युग से शिल्पी को शिल्प-सृजन का उपादान जुटाती आयी है।

"अन्तिम वात यह है, वर्ष मे किसी समय विद्यालयों मे शिल्प-सर्जन का एक उत्सव करना होगा। प्रत्येक विद्यार्थी को कुछ-न-कुछ शिल्प-वस्तु अपने हाथो से वनाकर उसमे श्रद्धा के साथ सम्मिलित होना होगा—वह शिल्प-वस्तु चाहे कितनी ही सामान्य क्यों न हो, लडको की सर्जन-शक्ति की वस्तुएँ उत्सव के अर्घ्यरूप में संगृहीत होकर सजायी रहेगी। नृत्य, गीत, जुलूस आदि के द्वारा उत्सव को सर्वांग-सुन्दर वनाने के लिए चेष्टा करनी चाहिए। उत्सव के लिए एक निश्चित समय ठीक कर देना कठिन है, देश-भेद से वह बदलेगा। वंगाल में शरद् ऋतु ठीक मालूम पड़ती है।"

शिल्प-गुरु की ये वाते स्पष्ट करती है कि कला और प्रकृति मे कितना सम्वन्ध है। एक-दूसरे की मदद से ही दोनो समझे जा सकते है। इन सुझावों के द्वारा वालकों की शिक्षा तो होगी ही, पर शिक्षको के लिए उन पर चिन्तन, मनन और आचरण करने से सच्चा लाभ होगा। यह दृष्टि वही शिक्षक दे सकता है, जो स्वय उसमे रत हो या कम-से-कम उस तरह की साधना मे लगा हो।

कला-वोध के ऊपर कहे गये पहलू के साथ अगर कला के इतिहास आदि पर ध्यान दिया जाय, तो उससे लाभ ही होगा। परन्तु यह खयाल रहे कि केवल कला का पुस्तकीय ज्ञान होने से कला द्वारा जिस तरह के व्यक्तित्व का निर्माण करने की वात सोची जाती है, वैसा

अल्प मात्रा मे भी होना असम्भव है। वह तो सृजनात्मकता और सम-वेदना का विकास करने से ही निर्मित हो सकता है।

स्थायी कलाबोध तभी विकसित हो सकता है, जब कि उसके साथ जीवन का सम्बन्ध हो। जैसा कि पहले भी जिक्र किया है कि बुद्धि से व्यक्ति कला का इतिहास और किसी कला के अच्छे-बुरे पहलुओ को समझता हो, पर उसके अपने जीवन मे सौन्दर्य के कुछ दूसरे ही मापदड काम करते हो, तो वह किस काम का ! यानी मनुष्य की बुद्धि और उसकी रुचि ( टेस्ट ) मे ऐक्य होना चाहिए। इसलिए प्रश्न है, शिक्षा के द्वारा सुरुचि का निर्माण करना। इसके लिए ऊपर जो सुझाव रखे गये है, उनके अलावा दो-चार बाते और सुझाना चाहता हूँ।

कला-बोध का निर्माण करने का एक कारगर तरीका है, व्यक्ति को ऐसे काम देना, जिसमे उससे सौन्दर्य-निर्माण की अपेक्षा हो। कक्षा का कमरा या छात्रालय का कमरा पूरा-पूरा खाली करके नये ढग से सजाने का काम एक विद्यार्थी को या विद्यार्थियों की एक टोली को देना चाहिए। उपयोग की दृष्टि से कमरे का सगठन सरल हो। सजावट की दृष्टि से उसमे एकआध चित्र चुनकर ठीक जगह लगाना और फूल-दान मे ठीक ढग से फूल सजाने तक का 'प्रोजेक्ट' आखिर तक किया जाय। उसमे सादगी और सजावट का सामजस्य हो, रग-मेल की दृष्टि पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाय। प्रोजेक्ट पूरा होने के बाद टोली के विद्यार्थियो से व्यक्तिगत तौर पर समालोचना की अपेक्षा हो, साथ-साथ सब मिलकर भी समालोचना करे। इससेस जावट के मूल सिद्धान्तो का अच्छा विस्तार किया जा सकता है। इसी प्रकार छोटी-छोटी प्रदर्शनियो का आयोजन, उत्सव-त्योहारो के समय सजावट और नाट्यमच आदि की सजावट मे भी विद्यार्थियो को प्रोजेक्ट दिये जायँ।

किसी व्यक्ति या राष्ट्र की रुचि और उसके सौदर्य-बोध के स्तर का इस बात पर से भी पता चलता है कि वह टूटन'वेस्ट-मेटीरियल' का उपयोग कैसे कर लेता है। इस सिलसिले मे दो उदाहरण मेरे सामने आते है : एक तो जापान का और दूसरा बगाल की काथा बनाने की

परम्परा का। सुना है, जापान में टूटन से अनेक प्रकार की सुन्दर-सुन्दर चीजों का निर्माण कर लेते है। कपड़ो की कतरनों से और लकडी के टुकड़ो से तरह-तरह की अत्यन्त सुन्दर गुड़िया वना लेना, कागज के छीजन से पेपर में से कूट का काम आदि वहाँ की विशेषताएँ है। छोटे-छोटे वाँस के टुकड़ो का इतना सुन्दर उपयोग कर लेते है कि देखते ही वनता है। एक छोटी-सी वाँस की कमची को लेकर उसे तराश-तराशकर उस पर कुछ कॅलीग्राफी या चित्र वना लेना आम तौर पर देखा जाता है।

इसी तरह पुरानी धोतियों और साड़ियो को लेकर अत्यंत ऊँची रुचि की सुजनियां, काथे वनाने की वंगाल की परम्परा भी इस वात की द्योतक है कि वहाँ की स्त्रियाँ 'वेस्ट-मेंटीरियल' लेकर उन्हे कैसे कला-कृतियो में परिणत कर सकती है। यही गुण है, जो कला-वोध का एक अंग वन जाना चाहिए। किसी शाला में इस तरह के वेस्ट-मेटीरियल का कितना और कैसा उपयोग होता है, यह देखकर वहाँ की शिक्षा के स्तर का पता चलना चाहिए। हमारी शिक्षा में ऐसे कार्यक्रम रखे जाने चाहिए, जिनसे वालकों को इस प्रकार की वस्तुओं का कलात्मक उपयोग करने की रुचि का निर्माण हो। इसके लिए प्रदर्शनियाँ भी रखी जा सकती है।

मनुष्य का वोध कल्पना के सूक्ष्म विकास के द्वारा भी वनता है। हमने अच्छी रुचिवाले ऐसे वहुत-से व्यक्तियो को तरह-तरह की अजीव चीजे संग्रह करते हुए देखा है। तरह-तरह के पत्थरो के टुकडे, पेड की पुरानी टेढी-मेढ़ी जडो या डालियो के टुकड़े इस तरह का आकार ले लेते है कि सूक्ष्म कल्पनावाला व्यक्ति उसमे अनेक प्रकार के रूप देख सकता है। इस तरह की चीजो मे कुछ कल्पना-जगत् का निर्माण कर लेना एक अच्छी ट्रेनिंग है। उससे व्यक्ति मे वोध का, सृजनात्मकता का विकास होता है। शाला मे इस तरह की प्रवृत्तियो को उत्साह मिलना चाहिए।

आजकल 'प्रोग्रेसिव' शालाओं में एक और कार्यक्रम चलता है, अखवारो और पत्र-पत्रिकाओ से फोटो और चित्रों की कटिंग जमा करने का। विचार अच्छा है, परन्तु उससे उद्देश्य-सिद्धि तभी हो सकती है,

जब कि वह कार्यक्रम सुरुचिपूर्ण हो। जैसे-तैसे भडकदार चित्र काटकर अलवम मे रख लिये, उससे तो रुचि वनने के वदले विगडेगी।

इस कार्यक्रम के स्पष्ट दो भाग करने चाहिए। पत्र-पत्रिकाओ मे से कुछ तो ऐसे चित्र संग्रह किये जायँ, जो सामान्य ज्ञान-विज्ञान से सम्वन्ध रखनेवाले हो। इनके भी अलग-अलग विषयो के अनुसार अलग-अलग अलवम वनाने चाहिए। टेकनिकल दृष्टि के अलावा इसमे यह ध्यान रहे कि सव चित्र साफ और सुन्दर हो। इनमे अधिकतर फोटो और डायग्राम आदि होंगे। फोटो हो, तो टेकनिकल दृष्टि से अच्छे होने चाहिए। इस प्रवृत्ति का दूसरा विभाग कला के दायरे का होगा। इसमे चित्र-कला, मूर्ति-कला, वास्तु-कला और दस्तकारियो के अच्छे-अच्छे नमूनो के फोटो या प्रिण्ट होगें। इसके चुनाव का काम करना कुछ कठिन है। कठिनाई दो कारणों से है: एक तो किस चित्र को चुनना और किसको नही, यह काफी जानकारी के वाद सधता है। दूसरा, चित्र शायद सचमुच माना हुआ अच्छा है, पर क्या वह प्रिण्ट चित्र के रगो को सचाई के साथ दिखाता है या छपाई मे उसके मूल रग इतने वदल गये कि उसके सारे गुण समाप्तप्राय ही हो गये? इसलिए इस काम के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। मेरा एक सुझाव इसके वारे मे है। शाला मे कुछ उच्च कोटि के प्रिण्ट हो, यह वात आसान नही है; क्योकि ऐसे प्रिण्ट वडे महँगे होते है। हर शाला के लिए खर्च करना सम्भव नही हो सकता। इसके लिए सवसे अच्छा तरीका यह है कि सरकारी पैमाने पर कुछ अच्छे-अच्छे सेट ससार की अलग-अलग कला-शैलियो के स्कूलो मे घूमते रहे। यह घूमती प्रदर्शनी वीच-वीच मे शिक्षको और वालको को देखने को मिले, यह उसका उद्देश्य हो। इस तरह की परम्परा वनने के वाद जो शिक्षक स्वाध्याय करके अपने स्कूल में पत्र-पत्रिकाओ से कटिंग द्वारा प्रिण्ट सग्रह करना चाहे, कर सकते हैं। उनका सग्रह सुरुचिपूर्ण होगा।

कला-इतिहास और 'कला के सिद्धान्तो' का महत्त्व कम नही है। जगत् मे मनुष्य की कला-कृतियो का जो खजाना भरा पडा है, उससे

परिचय करने और उसको जानने से कला-बोध के विकास मे महत्त्वपूर्ण कदम है। इसमे विशेष ध्यान जागतिक दृष्टि की ओर रहना चाहिए। भारतीय कला का इतिहास जान लेने से नही चलेगा और न केवल भारतीय कला को पहचान लेने से ही चलेगा, क्योंकि उससे संकुचित दृष्टि का निर्माण हो सकता है। मनुष्य ने अलग-अलग परिस्थितियो मे अलग-अलग उपकरणों से अपने आन्तरिक रूप-जगत् को किस-किस तरह प्रकट करने की कोशिश की है, यह जानना जरूरी है। बुनियाद मे बात एक ही है, मनुष्य हर जगह एक ही है। उसकी आकाक्षाएँ, उसकी आनन्द-प्राप्ति के रास्ते ऊपरी ढंग से देखने में अलबत्ता अलग दीखते है, किन्तु उनके अन्दर एक ही दृष्टि है, सौंदर्य-निर्माण की। कही वह कुछ काल के लिए अधिक विकसित हुई, कही कभी कुछ पिछड़ गयी; पर वह अमुक जाति या अमुक देश होने के कारण नही। इस तरह के ऊपरी भेद बड़े समुद्र की अलग-अलग लहरों की तरह है, जिनके नीचे है महासमुद्र और यहाँ अगाध मनुष्य-हृदय !

कला-इतिहास के विषय का इसी दृष्टि से अध्ययन किया जाय। यह आवश्यक है कि जो हमारे अधिक निकट है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय है, वह पहले देखा-समझा जाय। पहले का अर्थ यह नही कि उसे देखे और दूसरा नही; पर चूंकि उसे समझना हमारे लिए सरल और स्वाभाविक है, उसे हम अच्छी तरह से समझें। अगर अपनी सांस्कृतिक बुनियाद अच्छी तरह से समझ ली जाय, तो दूसरी परम्पराओ को समझना आसान हो जाता है।



नवाँ अध्याय

# कुछ सवाल और उनके जवाब

वैसे तो कला-शिक्षा के करीब-करीब हर पहलू पर अलग-अलग अध्यायो मे चर्चा की जा चुकी है। किन्तु ऐसा देखा गया है कि किसी भी इस प्रकार के विषय पर गहरी चर्चा करने के बाद भी कुछ शकाएँ रह जाती है। सेवाग्राम के प्रशिक्षण-विभाग, कला-शिक्षा प्रशिक्षण-विभाग और बाहर भी जहाँ कही अनेक बार शिक्षको से चर्चा करने का मौका मिला, उन्होने हमेशा प्रश्न पूछे। यह प्रश्न पूछने की ( चर्चा के बाद ) परम्परा अच्छी होती है, इससे कई बाते साफ हो जाती है। कुछ माता-पिताओ और पालकों ने भी मेरे सामने प्रश्न रखे है। यहाँ उन प्रश्नो मे से कुछ चुनकर उत्तर के सहित दे रहा हूँ। इसकी प्रेरणा मुझे श्री डब्ल्यू० वायोला की 'चाइल्ड आर्ट' नाम की पुस्तक से मिली और मैने उनके कुछ प्रश्न भी अपनाये है। किन्तु उत्तर अपने अनुभव के आधार पर दिये है।

१ हमारे वर्ग में कुछ ऐसे बच्चे है, जो कहानी बताते समय या बातें करते समय भी ठीक-ठीक शब्दो में अपने विचार प्रकट नही कर पाते। क्या चित्रकला द्वारा वे ज्यादा अच्छा आत्म-प्रकटन कर पायेंगे ?

हाँ, कुछ ऐसे अनुभव होते है, जो केवल चित्रकला द्वारा ही प्रकट किये जा सकते है। बच्चो की बुनियादी भाषा आकार की भाषा होती

---

लीनो प्रिण्ट ( १० )—'देव-मूर्ति' लडका, उम्र ११।

है। इसलिए चित्रकला उनके आत्म-प्रकटन के लिए बहुत अच्छा माध्यम है। ( पृष्ठ ४४ )

२. हमारे स्कूल में वच्चों के सामने कोई पत्ता, गेंद इत्यादि रखकर उसका चित्र वनाने के लिए कहते थे। क्या यह ठीक था?

नहीं। ( परिशिष्ट अ )

३. क्या याददाश्त से किसी वस्तु का चित्र वच्चों को वनाने के लिए कह सकते है?

हाँ, ठीक है। वच्चे जो चित्र अपनी इच्छा से वनाते है, वह तो सव याददाश्त की ही वुनियाद पर होता है।

४. वच्चो को आम तौर पर गहराई का वोध नही होता। दूर, नजदीक का भान भी उनके चित्रों में अक्सर नही होता है। क्या उनको इसका ज्ञान करा देना ठीक होगा? क्या वच्चे यह सीखना चाहते है?

गहराई का वोध, जिसे 'पर्सपेक्टिव' कहते है, वच्चों के चित्र में न रहना ही स्वाभाविक है। किन्तु दूर और नजदीक का भान वच्चों को अपने ढंग से होता ही है। उनका पर्सपेक्टिव चाक्षुष नही, मानसिक होता है। ठीक उम्र आने पर वच्चों को स्वयं चाक्षुष और पर्सपेक्टिव की आवश्यकता महसूस होती है। वह उम्र दस-ग्यारह साल के वाद ही आती है। उस समय मामूली सुझाव के तौर पर वह ज्ञान दिया जा सकता है। इसे जवरदस्ती सिखाने की जरूरत नही। वाद में चलकर सिखाने से वह चीज स्वाभाविक वनकर आयेगी। ( पृष्ठ १४२ )

५ आप अपने वर्ग में प्रेक्षको को आने देते है? क्या इससे वच्चो का ध्यान इधर-उधर नहीं जाता?

प्रेक्षको के आने से वर्ग मे अस्वाभाविकता आ जाती है और बच्चों का ध्यान टूट जाता है। अगर कभी प्रेक्षक का वर्ग मे आना आवश्यक ही हो पड़े, तो जरूरी है कि इसका ध्यान रखा जाय कि वच्चों को उसका आभासमात्र भी न हो।

६. आप एक ही उम्र के वच्चो को एक साथ चित्र के वर्ग में देना ठीक समझते है? अलग-अलग उम्र के वच्चे भी क्या एक साथ काम कर सकते है?

हाँ, ऐसा किया जा सकता है, वशर्ते कि वातावरण मे स्वतन्त्रता हो। किन्तु आठ-नौ से कम उम्रवाले वच्चो की एक टोली और उससे वडों की अलग टोली वनाना अच्छा होगा।

७ अगर पाँच साल का वच्चा आठ साल के वच्चे के जैसा चित्र वनाता है, तो उसके मानसिक विकास के वारे में क्या समझना चाहिए ? यह क्या अस्वाभाविक है ?

इसमे दो वाते है। अगर आम स्टैंडर्ड के हिसाव से पाँच साल का वच्चा आठ साल के उम्र के वच्चे के जैसे चित्र वनाता है, तो उसे औसत से ऊपर मानना चाहिए। या तो वह वातावरण के कारण ऐसा हुआ है या उसे 'सिखाकर' ऊपर लाया गया है या वह स्वय ही दूसरे वच्चों से अलग है। अगर उसे 'सिखाया' नही गया है, तो उसका इस तरह अलग होना कोई नुकसान की वात नही है।

अगर उस समाज का आम स्टैंडर्ड सामान्य तौर पर माने गये वच्चो के आम स्टैण्डर्ड से नीचा है, तो उनमे से कुछ वच्चे ऐसे निकलें, यह कोई अस्वाभाविक चीज नही माननी चाहिए। ( अध्याय तीसरा ).

८ अगर वच्चा किसी एक माध्यम में काम करने में खूब निपुण होता है, तो उसको उस माध्यम को छोडकर दूसरे का उपयोग शुरू करना क्या जरूरी है ?

नही, किन्तु यह वात जरूर अच्छी है कि वच्चे को जितना भी हो सके, अधिक-से-अधिक माध्यमो का अनुभव हो।

९ वच्चो के माँ-वाप अक्सर यही चाहते है कि उनका वच्चा सयानो की तरह 'अच्छे' चित्र वनाये। इस विचार से वच्चो के चित्र को सुवारने का प्रयत्न भी वे करते है। उनसे वच्चो को कैसे वचायेंगे ?

यह काम प्रौढ़ शिक्षा का है। माँ-वाप को यह सिखाना होगा कि वच्चो का स्वाभाविक कलाधर्म क्या है। और उनका विकास ठीक ढंग से उनकी स्वाभाविक कला सीढी के द्वारा ही हो सकता है। ( अध्याय तीसरा और चौथा )।

१० मेरी तीन साल की लडकी कागज पर रग छिडक देती है। कोई चित्र नही वनाती। तो क्या यह ठीक है ? क्या उसको किसी जानवर या वस्तु इत्यादि के आकार का वोव नही करा देना चाहिए ?

जिसे आप रंग छिड़कना कहते है, वही वच्चे का चित्र है। वही 'जानवर' है और वही उसकी 'वस्तु' है। अगर आपने उसका स्वाभाविक विकास होने दिया, तो वही रंग छिड़कने की प्रक्रिया विकसित होकर ऐसी हो जायगी कि वस्तु भी वन जायगी और जानवर भी। ( पृष्ठ ५४ व ५९ और अध्याय सातवाँ )

११. वच्चो को रगो के वारे में कुछ सिखाना चाहिए कि नही ?

नही। वच्चो का अपना खुद का रंगवोध होता है। ( पृष्ठ ६९ )

१२ किस उम्र तक वच्चो को अपने ही मन से चित्र वनाने देना चाहिए ?

इसका कोई नियम नही वनाया जा सकता। कुछ वच्चे तो छोटी उम्र में ही सुझाव की आवश्यकता महसूस कर सकते है और कुछ वच्चे ऐसे भी होते है, जो वड़े होकर भी अपनी मर्जी से चित्रकला करते-करते आगे वढ़ सकते है।

१३ क्या कभी-कभी वच्चो को किसी खास वस्तु का चित्र वनाने के लिए कहना गलत होगा ?

नहीं। मौका आने पर ऐसा करना जरूरी ही होता है। जो वच्चे एक ही चीज को वार-वार दोहराते रहते हैं, उन्हे तो इस तरह के सुझाव देने ही पड़ते है। ( पृष्ठ १२६ )

१४. मेरा चार साल का लडका हमेशा आकर कहता है कि एंजिन का चित्र वना दो। वह छोड़ता ही नही, जव तक मैं उसको झुक-झुक गाडी का चित्र नही वना देती हूँ, तो क्या ऐसा चित्र वना देना ठीक होगा ? उसके अपने चित्रो पर इसका क्या असर होगा ?

कभी-कभी वना देने में कोई नुकसान नही। किन्तु उसे झुक-झुक गाड़ी का चित्र खुद वनाने के लिए उत्साहित करना चाहिए। हो सके, तो पहले वह वनाये। ( पृष्ठ १२६ )

१५ वच्चों के लिए आज जो साहित्य प्रकाशित होता है, उसमें वहुत रगविरंगे चित्र होते हैं। उसके वारे मे आपका क्या विचार है ?

वच्चे रंग जरूर पसंद करते है, किन्तु जैसे-तैसे रंग-मेल के चित्र

वनाकर उनको रगविरंगा वना देना और यह कहना कि यह वच्चो के लिए खास तौर पर वनाया गया है, विलकुल गलत वात है। इससे वच्चो का रग-वोध विगड़ता है। वच्चो के लिए चित्रित पुस्तके कैसी हो, यह प्रश्न तो अलग है। किन्तु जहाँ तक रग का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि रग-मेल कला की दृष्टि से ऊंचे स्तर का हो। ( परिशिष्ट अि )

१६ वर्णमाला सिखाने की जो कितावें होती है, उसमें कई तरह के रगो का उपयोग होता है, उसके पीछे यह विचार है कि ऐसे रगविरगे बनाने से बच्चों के लिए वे आकर्षक होते हैं और वे अक्षर आसानी से सीख लेते है, यह बात ठीक है क्या ?

वर्णमाला सिखाना अलग चीज है और कितावें रगविरगी वनाकर आकर्षक वनाना अलग चीज है। हमारा विषय यहाँ वर्णमाला सिखाने की पद्धति का नही है, किन्तु हमें लगता है कि रंगविरगा वनाने से वर्णमाला सीखना आसान हो जाता है, यह वात अवैज्ञानिक है। ( परिशिष्ट अि )

१७ मेरे वर्ग के तीन बच्चे हैं, जो कभी अपने मन से चित्र नही वनाते है, दूसरो की नकल करते हैं। इस वृत्ति को कैसे रोकना चाहिए ?

नकल करना, इसमें कोई शक नही, ठीक नही है। वच्चो को नकल करने से बचाना चाहिए, किन्तु होशियारी के साथ। उन्हें अलग वैठाना ही अच्छा होगा। लेकिन उन्हें अलग किया जा रहा है और वह भी इसलिए, क्योकि वे नकल करते है, यह वात उनके मन मे नही आनी चाहिए। आखिर शिक्षक को यह तो समझ ही लेना चाहिए कि कुछ वच्चो की शक्ति कम होती है और कुछ की ज्यादा। कुछ अधिक सृजनात्मक होते हे और कुछ कम। कुछ तो केवल अनुकरण से सीखते है। सिद्धान्त के तौर पर नकल करना वच्चो के लिए गलत ही मानना चाहिए। ( पृष्ठ १३३ व परिशिष्ट अ )

१८ जो वच्चे खुद के चित्र वनाते हैं, वे भी कभी-कभी एक-दूसरे की नकल करते हैं। तो यह क्या सर्वथा गलत वात है ?

अगर यह नकल आपसी लेन-देन की चीज है,तो इसमें क्या नुकसान है !

१९ वच्चो के चित्रो का अभिप्राय वहुत दफे मुझे समझ में नही आता है, तो क्या वह वच्चो से पूछ लेना ठीक है ?

हाँ। जो चित्र वच्चे ने बनाया, अक्सर वह उसका मौखिक वर्णन करना भी पसंद करता है। उस तरह का वर्णन भी आत्म-प्रकटन का एक अच्छा साधन है। मैंने अक्सर पाया है कि अपने चित्र पर या उससे सम्वद्ध किसी विषय पर साथ-साथ लेख लिखना कुछ वच्चो को खूव अच्छा लगता है। इसलिए चित्रो का अभिप्राय पूछ लेने मे कोई नुकसान नही है। किन्तु उसके ऊपर आग्रह नही करना चाहिए। क्योकि जो प्रकट करना था, वह तो उसने अपने चित्र से ही कर दिया। अगर कुछ वचा होगा, तभी वह उसे 'कह' सकेगा। शिक्षक को वच्चे की भापा, उसका मन समझना चाहिए। जितना अनुभव शिक्षक का वढेगा, उतना ही वह विना पूछे वच्चों के चित्रो का अभिप्राय स्वयं समझने में समर्थ होता रहेगा। मनोवैज्ञानिक तो वच्चो के चित्रों से केवल चित्रों का अभिप्राय ही नही, उनके मन की गहराई की वाते भी समझने का प्रयास करते है।

२० क्या वच्चो को ट्रेस करने देना चाहिए ?

नही।

२१. छोटे वच्चो को एक साथ ज्यादे रंग देना ठीक है क्या ? वच्चो को किस तरह की कूंचियाँ देनी चाहिए ?

अक्सर देखा गया है कि अधिक रंग देने पर भी वच्चे दो-तीन ही इस्तेमाल करते है। इसलिए सवसे अच्छा यह होगा कि उन्हे पाँच-छह रंग ही दिये जायँ। साधारण ब्रश वच्चो के लिए काफी होते है। वहुत वारीक का कोई उपयोग नही होता, वल्कि उनसे वच्चो का हाथ खुलता नही। इसलिए मध्यम और मोटे ब्रश देने चाहिए। वड़े कागज पर चित्र वना रहे हो, तो वडे ब्रश की अधिक जरूरत पड़ सकती है।

२२ अगर एक वच्चा कोई चित्र आधा करके छोड देता है और दूसरे दिन उसे पूरा करना कभी-कभी पसद नही करता। ऐसी हालत में हमें क्या करना चाहिए ?

जो चित्र शुरू किया है, उसे पूरा करना ही चाहिए। अगर अगले दिन या कुछ दिन वाद भी हो, वच्चे को उस चित्र को पूरा करने के लिए

उत्साहित करना चाहिए। चित्र अधूरा छोड देना अच्छी आदत नही है। आम तौर पर वच्चे अपना चित्र पूरा करना पसद करते ही है। ( पृष्ठ १२८ )

२३ शिक्षको के लिए क्या ज्यादा जरूरी है, चित्रकला की पद्धतियों का ज्ञान या वच्चो की मनोवृत्ति को समझना ?

वच्चो को चित्रकला का अनुभव देने के लिए यह जरूरी नही कि शिक्षक कला-पद्धतियो मे निपुण हो, वल्कि मैंने तो यह पाया है कि जो शिक्षक वच्चो की मनोवृत्ति, उनके कला-अनुभव आदि को जानता है, उनके साथ सहानुभूति का अनुभव करता है, वह अच्छे कलाकार से, जो वच्चो को नही समझता है, कही अच्छा शिक्षक सिद्ध होता है। ( पृष्ठ ३ और अध्याय छठा )

२४ पुस्तको में जो चित्र पाये जाते है, उनका वच्चो पर क्या प्रभाव पडता है ?

जहाँ तक जानकारी का प्रश्न है, उन चित्रो से वच्चे को मदद मिल सकती है। किन्तु वह उनके कला-अनुभव के लिए मददगार नही हो सकते। वल्कि अगर वे चित्र कला-वोध की दृष्टि से निम्न स्तर के हो, तो वच्चो का नुकसान ही होगा। ऐसी हालत मे वच्चो को यह भान दे देना अच्छा होगा कि उनके अपने चित्रो का और पुस्तक के चित्रो का कोई सम्वन्ध नही है। अच्छा तो यह होगा कि चित्रित पुस्तक लिखने-वाले वच्चो के लिए जो पुस्तक तैयार करें, उनमे वच्चो के ही अपने चित्र हो या फिर वच्चे खुद अपनी पुस्तके तैयार करे। ( परिशिष्ट अ )

२५ आप कभी वच्चो को सामने की किसी वस्तु का चित्र वनाने को नहीं कहते ?

वहुत कम। वह भी तव, जव वच्चे को कुछ सूझ नही रहा हो। हमारा आग्रह यह नही होता कि वच्चा उस वस्तु का चित्र वनाये, जो हमे दीखती है। ( पृष्ठ १२६ और १३३ )

२६ कुछ वच्चे चित्रकला के साथ-साथ सगीत मे भी रुचि रखते है। क्या उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिए ?

जरूर देना चाहिए।

२७. कोई-कोई बच्चे इधर-उधर रंग लगाते जाते हैं। कोई चित्र नही बनाते। ऐसे अवसर पर क्या आप उन्हें चित्र बनाने के लिए कहेंगे ?

इधर-उधर रंग लगाना अधिक दिनों तक नही चलना चाहिए। उसका यह मतलब होता है कि बच्चे को नये अनुभव नही मिल रहे है। इसलिए कुछ सुझाव के रूप में हो सके, तो डायरेक्ट अनुभव देना चाहिए। ( पृष्ठ १३३ )

२८. अच्छे-अच्छे चित्रो की नकल करने में क्या नुकसान है ?

नकल करने में ही नुकसान है। खराब चित्रो की नकल करने मे अधिक नुकसान है और अच्छे चित्रों की नकल करने में कम नुकसान है। आखिर तो वह नुकसान ही है और आम तौर पर साधारण शिक्षक को अच्छा चित्र किसे कहेंगे, इसका निर्णय लेना मुश्किल होगा। ( परिशिष्ट अ )

२९. महान् कलाकारो की कृतियो से सीखने और उनके अनुभवो से लाभ उठाने का मौका आप बच्चो को नहीं देते हैं। क्यो ? उससे फायदा नही है क्या ?

आम तौर पर सयानों का प्रभाव बच्चों की कला पर पड़े, तो उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। महान् कलाकारों की कृतियो से सीखने के लिए और उनके अनुभव से लाभ उठाने के लिए बहुत समय है। चार-पाँच साल परे जब सयानों के जगत् मे बच्चा प्रवेश करता है, तब अगर उसे यह अनुभव मिलें तभी वह स्वाभाविक माना जायगा। हाँ, कला-बोध की दृष्टि से ये कृतियाँ देखने को मिलती रहें, तो कोई नुकसान नही।

३०. बच्चे चित्रो की समालोचना करते हैं क्या ?

हाँ, करते हैं। आपस में टोली के हिसाब से इस तरह की समालोचना करने से लाभ होता है।

३१ चित्रकला के साथ बच्चो को और क्या-क्या विषय सिखाना चाहिए ?

चित्रकला तो सिखानी ही चाहिए, किन्तु आपके प्रश्न के उत्तर में यह कहना अधिक उचित होगा कि सब विषयों के साथ भी चित्रकला का समावेश और समन्वय होना चाहिए। ( पृष्ठ १०३ और १२४ )

३२ जव वच्चो के चित्र वास्तविक नही वनते हैं, तो भी क्या वच्चे उनसे सतुष्ट होते हैं ?

वच्चे के अपने चित्र कभी भी वास्तविक नही होते और वह हमेशा अपने उन अवास्तविक चित्रो से ही सतुष्ट होता है। (पृष्ठ ५३)

३३ मेरा वच्चा वैसे तो काफी वुद्धिमान् है। लेकिन उसके चित्र उतने अच्छे नहीं होते। क्या यह कहना गलत होगा कि ज्यादा वुद्धिमान् वच्चे चित्र भी ज्यादा अच्छे वनायेंगे ?

नही। वुद्धिमत्ता और कला-अनुभव, तार्किक शक्ति और सृजनात्मक वृत्ति दो अलग-अलग चीजे है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि वुद्धि मे मद वच्चे अधिक अच्छा चित्र वनाते है। असल वात यह है कि किसीका रास्ता कुछ है और किसीका कुछ।

३४ वच्चो में जो प्राकृत वृत्तियाँ होती हैं, उन्हें क्या कला-प्रवृत्तियो के द्वारा समाधान मिलता है ?

कला उन वृत्तियो के निकास का जरिया है। और वह ऊँची श्रेणी का निकास है। उसीमें समाधान भी आ जाता है। (पृष्ठ ४६)

३५ गरीवो के वच्चे अक्सर अमीरो के वच्चो से अच्छा काम करते हैं। क्यो ?

गरीव अपनी गरीवी के कारण कुदरत से अधिक नजदीक रहता है। और इसलिए उसका आत्म-प्रकटन भी अधिक स्वाभाविक और प्रकृति के नजदीक होता है। अमीर वच्चो का वातावरण तुलनात्मक दृष्टि से कृत्रिम होता है। यह असर उनकी कला-प्रवृत्तियो पर भी पडता है।

३६ मैं सातवें वर्ग (चौदह वर्ष) का शिक्षक हूँ और इस टोली को चौथे वर्ग से सातवें वर्ग तक लाया हूँ। मेरा अनुभव यह रहा कि जैसे-जैसे वच्चे वडे होते गये, वैसे-वैसे उनके चित्रो मे प्राण की कमी होती गयी। आपका क्या मन्तव्य है इसके वारे में ?

वच्चे किशोर-अवस्था मे प्रवेश करने के समय सयानो की भाँति देखना प्रारम्भ करते है। यह उनके वदलने का काल होता है। आज समाज की धुंधली परिस्थिति मे यह चीज वच्चो को कमजोर वना देती है। उसीका यह असर है। किन्तु स्वाभाविक वातावरण वनाने की

अगर कोशिश की जाय, तो यह किशोर-अवस्था का सक्रमण-काल बच्चों के लिए वडा सृजनात्मक सिद्ध हो सकता है। ( पृष्ठ ५७ व ८७ )

३७ बच्चो के चित्रो में कोई-कोई अग क्यो असलियत से ज्यादा वडे होते है। जैसे, वच्चो के ज्यादातर चित्रो में सिर करीव-करीव शरीर जितना ही वडा रहता है, यह क्यो होता है ?

बच्चे बाह्य असलियत का चित्र नही वनाते। वे तो उनके मन के अन्दर जो असलियत है, उसका चित्र वनाते है। बच्चे, जो दीखता है, उसका चित्र नही वनाते, वल्कि जो जानते है, उसका चित्र वनाते है। जिस वस्तु का या जिस अंग का महत्त्व उनके मन मे अधिक होता है, उसका चित्र बनाते है। जिस अंग ने अधिक ध्यान खीचा हो, वह बड़ा वन जाता है। प्राचीन चित्रों मे भी यह वात मिलती है। अजन्ता मे देखिये। चित्र के जिस पात्र या अंग का अधिक महत्त्व होता है, उसे वड़ा वनाया गया है। कही-कही तो साधारण व्यक्तियो के चित्रों से बुद्ध भगवान् के चित्र को दस गुना भी अधिक बड़ा बना दिया है। यह वाह्य असलियत नही, अंदरूनी असलियत है।

३८ क्या आप अपने वर्ग में एक ही समय वच्चो को अलग-अलग प्रवृत्तियाँ, जैसे, चित्र वनाना, मिट्टी की मूर्ति वनाना, कुम्हार-काम इत्यादि देते है ?

हाँ, अक्सर ऐसा ही करते है। यह वहुत कम पाया कि सव बच्चे एक ही काम करना पसन्द करें। कोई चित्रकला करना चाहता है, तो कोई और कुछ। उन सबके लिए पूरी छूट और पूरा इन्तजाम होना चाहिए। ( अध्याय सातवाँ )

३९. वस्तुओ का ठीक-ठीक चित्र वनाना, इसका अभ्यास कव शुरु करना चाहिए ?

करीव-करीव बारह साल के बच्चो को इसकी जरूरत पड़ने लगती है। किन्तु इसका नियम बनाना गलत है। कुछ वच्चे उससे कही पहले इसके बारे मे सचेत हो जा सकते है। ( पृष्ठ १४२ )

४०. पर्सपेक्टिव ड्रॉइंग का अभ्यास कव शुरू कराना चाहिए ?

काफी वाद मे चलकर। ग्यारह-वारह साल की उम्र मे अगर जरूरत पडे, तो पर्सपेक्टिव के प्रारम्भिक नियमो का ज्ञान दिया जा सकता है। ( पृष्ठ १४२ )

४१ जव आप दीवारो पर तसवीरें लगाते है, तो वच्चे उनकी नकल नही करते क्या ?

अक्सर देखा गया है कि इस तरह की नकल कम होती है। वे ही वच्चे नकल करते है, जिनकी कल्पना-शक्ति और सृजनात्मक प्रवृत्ति खूव पीछे पड़ी हो। जो वच्चे अक्सर अपने मन से चित्र वनाते है, जव वे ऐसे मौके पर नकल करते है, तो किसी विशेष प्रेरणा के कारण करते है। या तो चित्र ने या चित्र के विषय ने उन्हे खीचा होगा। कभी-कभी ऐसा हो, तो उस पर अधिक ध्यान देने की जरूरत नही।

४२ वच्चो को थोडा पर्सपेक्टिव ड्रॉइग के तरीके वताना क्या अच्छा नही होगा ? उससे क्या वह ज्यादा अच्छे चित्र नही वना सकेंगे ?

जिसे आप 'ज्यादा अच्छा' कहते है, वह आपका ज्यादा अच्छा है, वच्चे का नही। वच्चे की दृष्टि से तो वही ज्यादा अच्छा है, जिसमे पर्सपेक्टिव ड्रॉइग के तरीके का अभाव हो। वही वच्चो के चित्रो का चरित्र है। ( पृष्ठ १४२ )

४३ वास्तविक चित्र वनाने के लिए वच्चो को प्रोत्साहित करने में क्या दोप है ?

जव वच्चे को अपने जगत् मे पूरा रहने का अधिकार नही होगा, तो आप ही समझिये कि उससे क्या नुकसान होगा। वास्तविक चित्र वनाने का मतलव यह हुआ कि वच्चे को उसके स्वभाव से पहले ही उसके स्वभाव के खिलाफ सयाने का स्वभाव देने का प्रयत्न किया जा रहा है। वच्चे को सयाना वनाने से जो नुकसान है, वही नुकसान वच्चो को सयानो जैसा चित्र वनाना सिखाने से है। वास्तविक चित्र वनाना सयानो का स्वभाव है, वच्चो का नही।

४४ वच्चो की सव प्रवृत्तियो में कला का स्थान होना चाहिए, इसका क्या मतलव ?

इसका मतलव है, उनकी सव प्रवृत्तियाँ सृजनात्मक-कलात्मक होनी चाहिए। कला-वोध हर प्रवृत्ति का नतीजा होना चाहिए। ( पृष्ठ १०२ व १०५ )

४५ वच्चो को अगर पर्सपेक्टिव नही सिखाया जाता है, तो क्या वे उम्र वढने के साथ-साथ वह अपने-आप सीख लेते है ?

हाँ, उम्र होने पर उन्हें पर्सपेक्टिव की आवश्यकता महसूस होती है। और आवश्यकता के समय अगर कुछ मदद ठीक तरह से दी जाय, तो चीज आसानी से सीखी जाती है। ( पृष्ठ ८३ व १४२ )

४६ क्या पर्सपेक्टिव की आवश्यकता हरएक वच्चे को महसूस होती है ?

नही, सच वात तो यह है कि अगर कला-वोध का मापदंड ऊँचा होगा, तो विना पर्सपेक्टिव के भी ऊँची रुचि के और ऊँचे स्तर के चित्र वनेगे। संसार की अधिकतर प्राचीन कला-शैलियो मे इस तरह के पर्सपेक्टिव का अक्सर अभाव देखा जाता है।

अगर कला-शिक्षा का तरीका ठीक हुआ और सयानों के कला-स्टैंडर्ड भी ऊँची कला की वुनियाद पर हुए, तो वच्चे भी यह जरूरी नही कि किशोर-अवस्था आने पर पर्सपेक्टिव या वास्तविकता की तरफ झुकें। ( पृष्ठ ८३ व १४३ )

४७ वच्चो को चित्रकला का अभ्यास कव शुरू करना चाहिए ?

जितनी भी जल्दी हो सके। ( पृष्ठ १२४ )

४८ क्या आपके वर्ग में वच्चों को आनन्द मिलता है ? उससे उनका मनोरजन होता है क्या ?

अगर आनन्द की सम्भावना न होती, वह अगर न मिलता, अगर वच्चों का मनोरंजन न होता, तो वच्चे वर्ग मे आते ही क्यों ? आपने देखा है न कि वच्चे वर्ग मे आते ही वड़े उत्साह के साथ काम मे लग जाते है।

४९. क्या चित्रकला से वाकी विपयो को समझने में वच्चो को कुछ मदद मिलती है ?

चित्रकला का सम्वन्ध चाक्षुष अनुभवो से आता है और विषयों मे भी मानसिक प्रतिविम्व की आवश्यकता चिन्तन के लिए पडती है। मानसिक प्रतिविम्व चाक्षुप अनुभवो से सम्वन्व रखते है। चित्रकला के द्वारा ये प्रतिविम्व स्पष्ट होते रहते है। इसलिए चित्रकला के अनुभव मदद ही करेगे। चित्रकला की अनुभूति का जो पहलू है, वह भी जीवन के अन्य पहलुओ को गहराई तक ले जाने मे मदद करता है। ( पृष्ठ ३० )

५० वर्ग में वच्चो की आपस में स्पर्धा की भावना होती है क्या ?

आज स्पर्धा मनुष्य के स्वभाव का एक अविच्छिन्न अंग-सा वन गयी है। इसका असर वच्चों पर भी पड़ता है। स्पर्धा वच्चो मे प्रकृति की देन नही है, उससे वचना होगा।

५१ चित्रकला-वर्ग का एक नियमित समय रखना अच्छा है क्या ? या वच्चे अपनी इच्छा के अनुसार जाकर रग, कूंची का उपयोग जव कभी करें, तो अच्छा होगा ?

सवसे अच्छा तो यह होगा कि वच्चो को पूरी-पूरी स्वतत्रता हो। जव चाहे, जाकर चित्र आदि वनाये, और अगर वातावरण मे इस प्रवृत्ति की अहमियत का भान होगा, तो वच्चे ऐसा करेगे ही। चित्रकला-वर्ग का नियमित समय रखना चित्रकला का कोई भी समय न रखने से तो अच्छा है ही। ( पृष्ठ १३९ )

५२ वच्चे वडे-वडे चित्र वनाना पसद करते है या छोटे ?

यह कोई नियम नही वन सकता। ( पृष्ठ १४० )

५३ रगो के वारे में वच्चो को कुछ वताना चाहिए ?

जव वच्चे कुछ पूछे, तो इस तरह वताना कि उनकी प्रयोग करने की वृत्ति वढे, अच्छा होगा।

५४ अगर मनुष्य मे रगो का वोध स्वाभाविक है, तो वडो के चित्रो मे रगो की डिसहार्मनी ( वदमेल ) क्यो पायी जाती है ?

वडो के चित्रो मे ही नही, आज तो वडो के सारे जीवन मे ही डिसहार्मनी है।

५५ अगर किसी बच्चे को चित्र बनाने का कोई विषय नही सूझता हो तो क्या करना चाहिए ?

उसे विषय सुझाकर, कहानी बताकर, कुछ प्रत्यक्ष अनुभव देकर प्रोत्साहन देना चाहिए। ( पृष्ठ १३३ से १३८ )

५६ बच्चो को चित्रकला के साधन ब्रश इत्यादि क्या अच्छे-से-अच्छे श्रेणी के देने चाहिए ?

नही, कोई जरूरत नही। किन्तु बच्चों की आवश्यकता की दृष्टि से वे अच्छे-से-अच्छे होने चाहिए। अच्छे-से-अच्छे का अर्थ है, उनकी आवश्यकताओं की पूरी-पूरी पूर्ति करनेवाला और उपलब्धि की दृष्टि से व्यावहारिक। ( पृष्ठ १२४ )

५७. बच्चो ने रगो का गलत उपयोग किया, तो उन्हें सुधारना चाहिए ?

गलत माने क्या ? क्या कपड़ों पर लगा लिया, जमीन मे बिखेर दिया या एक-दूसरे के मुँह पर या कपड़ो पर लगा दिया ? अगर ऐसा हो, तो जरूर बच्चों को इसके बारे मे प्रोत्साहन नही देना चाहिए। किन्तु अगर चित्र के अन्दर उसने अपने ढंग से रगों का उपयोग किया, तो उसे आप गलत कैसे कह सकते है ?

५८. बच्चे चित्र बनाने में क्या शिक्षक की मदद नही माँगते है ?

जो बच्चे कुछ पिछड़े होते है, वे जरूर माँगते है। शिक्षक को उन्हें कुछ सहारे के तौर पर मदद देने की आवश्यकता होती है। किन्तु वह चित्र बनाकर दिखा देना या चित्र में मदद कर देना, इस तरह की नही होनी चाहिए।

५९. बच्चो के रहन-सहन के तरीके और वातावरण का उनकी कला-प्रवृत्तियो पर क्या असर पडता है ?

कला आत्म-प्रकटन का माध्यम है। जैसा रहन-सहन और वातावरण होगा, वैसा उसका आत्म-प्रकटन।

६०. लडके और लड़कियो के चित्रो में क्या कुछ अन्तर रहता है ?

हाँ, होता है। लड़कियाँ आलंकारिक चित्र कुछ अधिक बनाती है।

६१ वुनियादी शालाओ में वच्चो की औद्योगिक प्रवृत्तियो—खेती, वागवानी, कताई आदि और कला-प्रवृत्तियों का मेल रहता है? क्या वे एक-दूसरे के पूरक या सहायक हो सकते है?

सच्ची समवाय-पद्धति में हर विषय और हर प्रवृत्ति का आपस मे मेल रहेगा। कला तो ऐसी प्रवृत्ति है, जो दूसरी हर प्रवृत्ति की प्राण वननी चाहिए। ( अध्याय पाँचवाँ )

६२ वच्चो की कल्पना-शक्ति चित्रकला के द्वारा प्रकाश पाती है। क्या कला-प्रवृत्तियों से उनकी कल्पना-शक्ति उत्तेजित और विकसित भी होती है?

हाँ, होती है। ( अध्याय दूसरा )

६३ क्या वच्चो को याद से चित्र वनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए? अगर करना चाहिए, तो किस उम्र से?

वच्चे शुरू से ही याद से चित्र वनाते हैं। ( अध्याय तीसरा )

६४ कोई वच्चा हमेशा एक ही वस्तु का चित्र वनाता रहता हो, तो क्या करना चाहिए? मेरे वर्ग का एक वच्चा एक महीने से आते ही कागज के एक कोने से शुरु करके चिडिया उडती हो, ऐसे चित्र से कागज का आधे से ज्यादे हिस्सा भर देता है और पद्रह मिनट में यह काम खतम करके दूसरे खेल में लग जाता है। ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिए?

अगर वच्चा हमेशा एक ही तरह का चित्र वना रहा है, तो समझना चाहिए कि उसे डायरेक्ट अनुभव कोई नया नही हो रहा है। इसलिए ऐसे मौके पर पहला काम यह होना चाहिए कि वच्चे को अनुभव दिये जायँ। अन्दर कुछ नया अनुभव आ जायगा, तभी तो वाहर भी वह निकल सकेगा। इस तरह के अनुभव नही हो रहे हैं, यह स्पष्ट है। उसका इलाज कर लिया, तो काम हो जायगा। ( पृष्ठ १३३ )

६५ क्या वच्चे की वौद्धिक शक्ति, योग्यता और कर्म-कुशलता का उनके चित्रो पर असर होता है?

कोई जरूरी नही कि यह होता ही हो।

६६ यह मानी हुई वात है कि चौदह-पद्रह साल की उम्र में सृजन-शक्ति क्षीण होती है या वदल जाती है। उस अवस्था में और किस तरह की प्रवृत्तियाँ चित्रकला की जगह ले सकती है?

तरह-तरह की कलात्मक दस्तकारियाँ और कला के दूसरे माध्यम ऐसे मौके पर उपलब्ध होने चाहिए । ( पृष्ठ १४४ )

६७. चित्रकला और मिट्टी के काम को आप समान श्रेणी के मानते है ? क्या मूर्तिकला में भी आत्म-प्रकटन का माध्यम मिलता है ?

हाँ।

६८. लकडी से और मिट्टी से चीजे बनाने में क्या अन्तर है ? बढ़ईगिरी भी बच्चो के लिए आत्म-प्रकटन का माध्यम हो सकती है क्या ?

हर वस्तु का अपना निराला चरित्र होता है। जो चीजे एक वस्तु से बनेगी, वे भी अपने माध्यम का चरित्र रखेगी। दोनों के औजार भी अलग-अलग है। इसलिए फर्क होगा ही। बढ़ईगिरी भी आत्म-प्रकटन का माध्यम हो सकती है, किन्तु छोटे बच्चे उसे इतना नही कर सकते।

६९ मैने आपके वर्ग में बच्चो को अल्पना का अभ्यास करते हुए देखा है। वे कागज पर भी अल्पना का डिजाइन बनाते हैं क्या ?

कागज पर भी बनाते है। किन्तु अल्पना का अभ्यास जमीन पर ही हो, इसका मुख्य महत्त्व है। ( पृष्ठ १४४ )

७०. आपके कलाभवन मे बडे कलाकारो की कृतियो की प्रदर्शनियाँ होती हैं। बच्चो के चित्रो पर उनका कुछ असर नही होता है क्या ? बच्चे कभी इन चित्रो को ध्यान से देखते हैं ?

बिलकुल छोटे बच्चे अक्सर इन चित्रों को चित्रों की दृष्टि से नही देखते। उनको उनमें कुछ मजेदार बात दिखी, तो कुछ ध्यान देते हैं; नही तो प्रदर्शनी का खयाल भी नही करते और अपने काम मे लग जाते है। कुछ बड़े बच्चो पर उससे कुछ अधिक असर पडता है।

७१. आप मानते हैं कि बच्चे अपनी कल्पना-शक्ति और अनुभव से चित्र बनायें, तो ज्यादे अच्छा है। आप बडो के चित्रो के प्रभाव से उनको कैसे दूर रखेंगे ?

अपने ही अनुभव से चित्र बनाये तो ज्यादा अच्छा है, ऐसी बात नही। केवल अपने ही अनुभव से चित्र बनाये, ऐसा होना चाहिए। बडो के प्रभाव से दूर रखना आसान नही है। पहले तो बड़ों को यह समझना

होगा कि वच्चे जो चित्र वनाते है, उनसे वैसे ही चित्र की अपेक्षा होनी चाहिए। अगर वडो ने वच्चो के चित्र समझने का प्रयत्न किया, तो आधा काम तो हो ही गया। अपनी ही कल्पना-शक्ति के चित्र वनाने की पूरी छूट देनी चाहिए। वड़ो के वनाये हुए चित्र दिखाने का आग्रह नही करना चाहिए। वड़ो के मापदड से उनके चित्रो को मापना नही चाहिए। इसके लिए प्रौढ-शिक्षा का कार्यक्रम चलना चाहिए।

७२ स्टेन्सिल, लीनोकट वगैरह किस उम्र में शुरू कर सकते है ?

ज्यो ही वच्चे इन माध्यमो के औजार इस्तेमाल करने लायक हो जायँ, यह सव शुरू कर सकते है। (पृष्ठ १३५)

७३ वच्चो के लिए चित्रित पुस्तकों के वारे में आपका लेख हमारे स्कूल के सव शिक्षकों ने पढा। क्या आप सोचते हैं कि इस तरह का चित्रित साहित्य वडे पैमाने पर तैयार किया जा सकेगा ? तो यह किस उम्र के वच्चो के लिए होगा ?

आम तौर पर वच्चो के लिए साहित्य जितना भी स्थानिक हो, उतना ही अच्छा। शाला के वच्चे अपने से छोटे वच्चो के लिए इस तरह का साहित्य तैयार करे। यह परम्परा अगर वन गयी, तो शाला मे ही काफी साहित्य तैयार हो जायगा। जो साहित्य वडे पैमाने पर तैयार किया जाता है, उसमे यह नयी दृष्टि रखना कोई अव्यावहारिक चीज नही होगी, वल्कि उसमे पैसे की दृष्टि से भी वचत हो सकती है। चित्रो के चुनाव की भी खूव गुजाइश होगी। इस तरह का साहित्य सव उम्र के वच्चों के लिए होना चाहिए। (परिशिष्ट अ)

७४ आप ऐसे जमाने की कल्पना करते है, जव वच्चों के द्वारा ही चित्रित साहित्य छोटी कक्षाओं मे पाठ्यपुस्तकों की जगह पूरा-पूरा लेगा। तो उनमे क्या लाभ होगा ?

आज खास तौर पर नयी तालीम मे पाठ्यपुस्तक कहकर कोई चीज नही है। हाँ, वच्चो के लिए अनेक पुस्तके होनी चाहिए। उनमे जितनी भी हो सके, चित्रित हो और उन्हे वनाने मे जितना भी वच्चों के चित्रों का उपयोग किया जा सके, उतना ही अच्छा होगा। इसका मतलव यह नही कि सभी पुस्तके इस तरह वनेगी। हमने कहा है कि प्राकृतिक

दृश्य अच्छे फोटो द्वारा दिये जा सकते हैं। ऊँची कला के नमूने इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इन सबमे मै वच्चों के द्वारा चित्रित पुस्तकों को अधिक महत्त्व देता हूँ। ( परिशिष्ट अि )

७५ मेरा आठ साल का लडका सोचता है कि मेरा वनाया हुआ घर का चित्र उसके चित्र से अच्छा है, क्योकि 'अम्मा की लाइनें साफ है, अच्छी है। इसके लिए क्या किया जाय ? आप कैसे कहते है कि वच्चे वच्चो के चित्र ज्यादा पसद करते है ?

वच्चे को अम्मा जो कुछ भी करे, उसके लिए आम तौर पर 'हीरो-वरशिप' होता है। और यह भी हो सकता है कि वच्चे के मन मे कुछ सयानो का असर हुआ हो। उतने असर को पूरा-पूरा दूर रखना आज की हालत में मुश्किल है, किन्तु अगर वच्चे के अपने काम के साथ वडो को समवेदना रहेगी और आदर होगा और अगर वच्चे को विश्वास होगा कि अम्मा उसके चित्रो को सचमुच पसंद करती है, तो अम्मा की साफ लाइनों से कोई बुरा असर नहीं पड़नेवाला है।

७६ मेरे दोनो वच्चे जव कभी झुक-झुक-गाडी देखने का मौका मिलता है, तो वडे गौर से उसके एंजिन के सव हिस्सो को देखते है और घर आकर चित्र वनाते है। एक-दूसरो के चित्रो में कमियाँ वताते है, उन्हें सुवारते है। लेकिन वे सव वस्तुओ को इतने ध्यान से देखते हो, ऐसी वात नही है। क्यो ? इसका क्या कारण है ?

उन्हें जो चीज आकर्षित करती है, उस चीज को वे देखते है और उसीको वनाते है। दोनों मे जो देखने मे फर्क हुआ होगा, उसीको लेकर एक-दूसरे की समालोचना करते है। जो चीज चित्र मे वच्चे नही वनाते है और अगर उस पर आपका ध्यान गया हो, तो आप सोचते है कि वह वच्चो की गलती हुई। यह आपकी गलती है।

७७. एक वच्चे ने ऐसा चित्र वनाया कि एक आदमी को फाँसी लटका रहे है। आप क्या समझते है, उसके पीछे क्या भावना काम कर रही थी ?

उस विचार ने जरूर वच्चे के मन पर कुछ छाप डाली है। इसके पीछे करुणा भी हो सकती है और वदले की हिंसात्मक भावना भी। ( पृष्ठ ४६ )

७८ बच्चो को इस तरह के अस्वस्थ ढग के चित्र ( फाँसी इत्यादि के ) बनाना ठीक है क्या ? उनको कैसे रोका जा सकता है ?

उनको अगर इस तरह के चिन्तन से बचाना चाहते है, तो इस तरह के जितने भी चित्र बच्चे बनाना चाहे, बनाने दीजिये। इन भावनाओ का निकास अगर चित्रकला आदि विषयो के द्वारा नही हुआ, तो किसी ऐसे ढग से होगा, जो समाज का और व्यक्ति का नुकसान करेगा। मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी यह प्रवृत्ति इस तरह अत्यन्त उपयोगी होती है। ( पृष्ठ ४६ )

७९. अगर किसी बच्चे की कल्पना-शक्ति कम है, तो उसको चित्र बनाने के लिए कोई विषय या वस्तु सुझाना ठीक होगा क्या ?

हाँ। कभी-कभी सुझाना ही पड़ता है। ( पृष्ठ १३६ )

८० वर्ग में बच्चो के चित्रो के बारे में चर्चा करना और एक-दूसरे के बारे में तुलना करना ठीक है क्या ? वह काम बच्चों को स्वय ही करने का मौका मिलना चाहिए। आप मानते हैं कि आजकल स्कूलों में जो ड्रॉइग क्लासेस होती हैं, वे नुकसान-देह हैं। क्यों ?

क्योकि बच्चो को उनमे कोई रुचि नही होती और न वे उससे कला-बोध या कला-कौशल सीख पाते है।

८१ सभी शिक्षित स्त्री-पुरुषो को किसी वस्तु को देखकर ठीक-ठीक चित्र या स्केच बनाने की कुशलता होनी चाहिए, यह शिक्षा कब शुरू करनी चाहिए ?

अगर बचपन से ही ठीक ढग से कला-शिक्षा का कार्यक्रम बने, तो वह सबको स्वय ही सध जायगा। और सयाने अगर इस तरह चित्र या स्केच नही बना पाते है, तो उन्हे इस तरह की शिक्षा आज ही शुरू कर देनी चाहिए।

८२ सयानों की चित्रकला और बच्चो की चित्रकला का क्या सम्बन्ध है ?

कुछ नही।

८३ आम तौर पर लोगो को बच्चो के चित्रो के प्रति निरादर की भावना होती है। उसका क्या कारण है ?

हमारे देश में वच्चों के चित्रों की वात तो छोड़ ही दीजिये, वच्चो के प्रति कितनी आदर की भावना है, यही जरा वताइये !

८४. आपका क्या अनुभव है, वच्चों ने कोई कहानी पसद की, तो वे उसका चित्र वनाते हैं ?

कभी वनाते हैं, कभी नही।

८५ वच्चो के माँ-वाप उनकी कला-प्रवृत्तियो में क्या मदद कर सकते हैं ?

उनका आदर करें और उस प्रवृत्ति के लिए उन्हे प्रोत्साहन दे। ( अध्याय सातवाँ )

८६. वडे कागज पर चित्र वनाने के लिए वच्चे सकोच करते हैं। उस सकोच को कैसे दूर किया जाय ?

धीरे-धीरे। सव्र के साथ। ( पृष्ठ १४० )

८७ कुछ वच्चे ऐसे होते हैं, जो आलकारिक भाँत (पैटर्न) वनाना अधिक पसद करते हैं। क्या उन्हें ऐसा करने के लिए पूरी छूट होनी चाहिए ?

पैटर्न ही केवल वनाते रहें, यह ठीक नही है। उन्हें चित्र वनाने के लिए भी उत्साहित करना चाहिए। ऐसे कुछ अपवाद हो सकते है, जव कि वालक हमेशा नये-नये पैटर्न वनानेवाला हो। ऐसी हालत मे उसी प्रवृत्ति का विकास करना अच्छा होगा।

८८ वच्चे आपसे कभी चित्र वनाने में मदद माँगते है ?

शुरू-शुरू में थोड़ी मदद माँगते है, किन्तु वे जव समझ लेते हैं कि मुझसे सीधी-सीधी मदद नही मिलती, तो वे नही माँगते।

८९ शुरू-शुरू में क्या यह ठीक नही होगा कि वच्चे केवल पेंसिल से अभ्यास करें ?

नही। वच्चे प्रकृति के नजदीक होते है, इसलिए प्रकृति के जितने भी गुण-रंग इत्यादि होते है, वे सव उन्हें मिलने चाहिए और शुरू से ही। ( पृष्ठ १२४ )

९०. अपने वर्ग में आप वच्चो का वर्गीकरण उम्र की दृष्टि से करते है या कुशलता की दृष्टि से ?

वर्गीकरण कुशलता और मानसिक विकास की दृष्टि से होना चाहिए, किन्तु उम्र का अधिक फर्क हो, तो ऐसे वच्चो को छोटी उम्र-वालो के साथ रखना ठीक नही है।

९१ पत्रिकाओ में जो चित्र आते है, क्या उनकी नकल करने से वच्चे कुछ नही सीखेंगे ?

नही, वल्कि उससे उन्हे नुकसान ही होगा। ( परिशिष्ट अ और अि )

९२ आजकल अग्रेजी ढग की कुछ ऐसी पुस्तकें आती है, जिनमें रेखा-चित्र वने हुए रहते है और वच्चो को उनमे रग भरने का अभ्यास करने के लिए कहा जाता है। क्या यह ठीक है ?

ऐसा करना गलत है। हालाँकि आज के वातावरण मे काफी वच्चे ऐसा करना पसंद करते हैं। उन्हे अपने ही चित्र वनाने चाहिए। ( परिशिष्ट अ और अि )

९३ आपका विचार है कि वच्चो को कला सिखानी नही चाहिए, वल्कि उन्हें अपनी इच्छा से चित्र वनाने देना चाहिए, तो इससे शिक्षक का काम क्या आसान हो जाता है ?

आसान नही, वल्कि और मुश्किल हो जाता है। जव 'सिखाने' की वात होती है, तो वनाकर दिखा दिया, हाथ पकडकर वता दिया, उससे ही चल गया, ऐसा मान लेते है। किन्तु जिस तरह हम कहते है, वैसा करने से शिक्षक को वच्चे की हर अवस्था में वहुत ध्यान से अपना काम करना पडता है। ( पृष्ठ १२६ )

९४ मुझे तो इस पद्धति में वडी कठिनाई मालूम होती है। इस तरह के समझदार शिक्षक सव स्कूलो मे कहाँ मिलेंगे ? शिक्षक को जितना समझदार होना चाहिए, उतने समझदार तो मिलेगे नही !

अगर नही मिलते है, तो उनकी तैयारी करनी होगी। उन्हे वच्चो के वारे मे जानकारी और अनुभव देना होगा। शिक्षक ही नही मिलेंगे, तो फिर शिक्षा के वारे मे सोचते ही क्यो है ?

९५ वच्चो के काम की परीक्षा आप कैसे करते है ?

हम परीक्षा लेनेवाले कौन ? परचे लिखाकर या ड्रॉइंग कराकर परीक्षा लेने में कोई सार नही होता। बच्चों का रोज का काम ही उनकी परीक्षा है । अगर वे खुश है और हमेशा नये-नये चित्र वनाने के लिए उत्सुक रहते है, तो वही उनकी परीक्षा में सफलता है।

९६. अनुकरण की वृत्ति तो वच्चो में होती ही है, उमसे कैसे वचायेंगे ?

वच्चे अनुकरण से भी सीखते है, किन्तु केवल अनुकरण से नही। उन्हे अपने प्रत्यक्ष अनुभव मिलते रहे, तो अनुकरण की वृत्ति कम-से-कम रहेगी। ( परिशिष्ट अ )

९७ आपने कहा कि वच्चा जितना समय चाहता है, उतने समय उसे चित्र वनाने देना चाहिए। स्कूल के समय-पत्रक में यह सभव नही होगा, तो कैसे करें ?

स्कूल के समय-पत्रक को उतना कड़ा नही बनाना चाहिए। समय का थोडा-वहुत फेरवदल होता रहे, वही अच्छा है। समय-पत्रक 'मिकेनिकल' रहना वहुत गलत है। ( पृष्ठ १३९ )

९८ एक वच्चा चित्र वनाता है, उसका कोई अर्थ नही दीखता। तो क्या उससे पूछना नही चाहिए कि क्यो भाई, क्या सोचकर चित्र बनाया ?

पूछने मे कोई हर्ज नही। अच्छा ही है। इससे उसका चिन्तन विकसित हो सकता है। किन्तु जोर नही देना चाहिए।

९९ अगर वच्चे गलत रग का इस्तेमाल करते है, जैसे पेड को बैंगनी या लाल वनाया, तो उसे ठीक करने के लिए नही कहना चाहिए ?

प्रकृति का पेड़ अलग होता है और कलाकार के मन का पेड़ अलग। और फिर बच्चो का तो विलकुल ही अलग है। इसमे आनन्द की ही वात होनी चाहिए। यह उनकी कवि-कल्पना होती है। उसे कौन सुधार सकता है ? ( पृष्ठ ६९ )

१००. सभव है कि वच्चा 'कलर ब्लाइंडनेस' के कारण गलत रग दे रहा हो। आपका क्या अनुभव है ?

अभी तक मेरे सामने एक ऐसा अनुभव आया है। आम तौर पर ऐसा वहुत कम होता है। उसका इलाज शायद कला-शिक्षक के पास नही होगा। (पृष्ठ ३०)

१०१ क्या आप बुद्धिपूर्वक बनाये चित्र को ज्यादा महत्त्व देते हैं ?

नही । कलाकार दो तरह के ही होते है। एक वे, जिनके चित्र बुद्धिप्रधान होते है और दूसरे वे, जिनके बोधप्रधान ( इनटयूटिव ) होते है। एक कम महत्त्व का या दूसरा अधिक महत्त्व का नही होता ।

बच्चो के चित्र बुद्धिप्रधान नही होते ।

१०२ अगर सब स्कूलो में इस तरह का कला-शिक्षा का तरीका प्रचलित हो गया, तो हमारे देश में आगे चलकर क्या ज्यादा कलाकार होंगे ?

कलाकार ज्यादा होगे या नही, इस प्रश्न से अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधारण नागरिक का सम्पूर्ण विकास तभी होगा, जब स्कूलों मे कला-शिक्षा का जैसा स्थान चाहिए, वैसा होगा और कलाकार तथा कला को समझनेवाले लोग भी अधिक होगे।

१०३ सब कलाकार तो नही होगे, फिर भी बचपन में जो मिट्टी-काम, बढई-काम इत्यादि करने का मौका मिला, तो उससे क्या ज्यादा कुशल कारीगर बनने मे मदद मिलेगी ? क्या हाथ से काम करने की अच्छी शिक्षा या अभ्यास सबको मिलेगा ?

हाँ, आम तौर पर दस्तकारी की वृत्ति की जो कमी आज हमारे यहाँ है, वह नही रहेगी। साधारण व्यक्ति की कार्य-कुशलता अच्छी होगी। जिसे हम 'टेकनिकल' दृष्टि कहते है, उसका निर्माण करने के लिए हमारी यह कला-शिक्षा खूब मदद करेगी।

१०४ इस तरह की कला-शिक्षा क्या बच्चे को अपने प्राकृतिक वातावरण को समझने में मदद देगी ?

केवल मदद ही नही, बल्कि प्रकृति के साथ एकरस होने मे सहायक बनेगी। आज तो प्रॉसेस उल्टा है। जैसे-जैसे व्यक्ति बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वह प्रकृति से दूर हटता जाता है। कला-शिक्षा इस 'प्रॉसेस' को ठीक दिशा देगी। ( पृष्ठ २६ )

१०५ क्या आपका अनुभव है कि जिन बच्चो को आपके कला-वर्ग में काम करने का मौका मिला, वे फूल, पत्ते, इत्यादि वस्तुओ के आकार को ज्यादा अच्छी तरह से समझते है ?

हाँ।

१०६ आपने कल सचेतता का जिक्र किया था कि वहुत सयानो मे भी आसपास की वस्तुओं का ज्ञान नही होता। क्या कला-शिक्षा के द्वारा वच्चो में यह सचेतता आ सकती है?

कला-शिक्षा की यह सचेतता—अवेअरनेस—का पहलू वड़ा महत्त्वपूर्ण है। अपने वातावरण के साथ ऐक्य निर्माण के माने ही वही है। (पृष्ठ २८)

१०७ क्या कसीदे का काम भी कला-शिक्षा में आ सकता है?

हाँ, आ सकता है।

१०८ क्या सगीत में और चित्रो में भी छद का ज्ञान वच्चो को स्वाभाविक रप से होता है?

काफी हद तक होता है।

१०९ वच्चा कौनसी उम्र में सवसे स्वाभाविक और एकदम मुक्त रूप से कला का काम करता है?

आठ-नौ साल की उम्र मे।

११०. अगर कोई वच्चा नकल करना ही चाहता है और कुछ नही, तो आप क्या करते है?

उस दिन उसे छोड़ देते है। उसके नकल के काम का कोई महत्त्व नही है, यह उसे भान हो जाना चाहिए। तव वह सोचना शुरू करेगा और कुछ मन से वनाने का प्रयत्न करेगा।

१११. इस तरह की कला-शिक्षा से क्या वच्चो में अच्छी रुचि पैदा होती है?

हाँ, हम मान लेते है कि उसका जो वातावरण है, वह अच्छी रुचि का है। तभी तो वह कला-शिक्षा, जिसका हम वखान कर रहे है, वैसी होगी, जिसे हम उचित कहेगे।

११२ अगर शुरू से ही ठीक मार्गदर्शन मिला, तो क्या वच्चे की सृजन-शक्ति ज्यादे समय तक टिकती है?

हाँ, आशा तो यह है कि वह धीरे-धीरे विकसित ही हो, केवल टिके नही।

११३ अगर बच्चे ने शुरू से ही अपने मन से काम किया, उनको कुछ 'शिक्षा' नही दी गयी, तो क्या उम्र होने पर उसको ठीक-ठीक परिमाण ( प्रपोर्शन ) का ज्ञान अपने-आप हो जाता है ?

बच्चे की स्वाभाविक कला-सीढी के अनुसार अगर उसका विकास हुआ, तो परिमाण का ज्ञान अपने-आप होता जायगा। ( अध्याय तीसरा )

११४ आप बच्चो के चित्रो की प्रदर्शनी करते है, तो क्या अच्छे और बुरे चित्रो को भी रखते हैं ?

प्रदर्शनी मे अच्छे ही चित्र रहे, इसका प्रयत्न करता हूँ। किन्तु किसी बच्चे का चित्र बिलकुल छूट जाय, ऐसा नही होने देता हूँ।

११५. अगर किसी बच्चे ने अच्छा चित्र बनाया, तो वह क्या सारे वर्ग को दिखाना चाहिए ?

चित्र तो सभी सारे वर्ग को दिखाने चाहिए। किसी बच्चे को ऐसा भान नही कराना चाहिए कि वह वर्ग मे विशेष स्थान रखता है।

११६ अगर किसी बच्चे की सृजन-शक्ति कमजोर है, तो आप किस प्रकार उसकी मदद करेंगे ?

कहानियो द्वारा। तरह-तरह के वर्णन कराकर, दस्तकारी और कला की तरह-तरह की कृतियाँ दिखाकर और उसके साथ समवेदना का भाव रखकर। ( अध्याय सातवाँ )

११७ बच्चो के घरो में और समाज में जो हलके स्तर के यानी बुरी रुचि के चित्र इत्यादि रहते है, इसे कैसे ठीक कर सकते है ?

चित्रो को फेंककर, जलाकर और उनके बदले अच्छे चित्र रखकर।

११८ सयानो की रुचि ठीक करने का क्या उपाय है ?

इलाज बचपन से शुरू कीजिये और समाज के हर क्षेत्र मे यह शिक्षा-पद्धति लागू कीजिये।

११९ बच्चे की जो सृजनात्मक वृत्ति है, वह बाद में क्या उसकी कारीगरी के काम में पायी जाती है ?

हाँ, उसका विकास ठीक होने पर ऐसा ही होना चाहिए।

१२०. बच्चो की कला-प्रवृत्तियो से सबसे बडा लाभ बच्चे का आनन्द ही है न?

केवल आनन्द नही, उनसे उसका सम्पूर्ण विकास होता है। ( अध्याय पहला और चौथा )

१२१ अगर बच्चो को बहुत छोटी उम्र मे ही लिखना-पढना सिखाया जाता है, तो क्या वह इसकी कला-प्रवृत्तियो में बाधा पहुँचाता है?

आम तौर पर तो आप जानते ही है कि नयी तालीम के सिद्धान्त के अनुसार बच्चो को लिखना-पढना छह साल के बाद सिखाया जाना चाहिए। उससे पहले पढना-लिखना सिखाने का मतलब बच्चे पर गैरजरूरी भार डालना होता है। यानी जितनी शक्ति उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियो मे लगनी चाहिए, वह नही लग पायेगी। यानी उससे नुकसान ही होगा।

१२२. बच्चा अपना चित्र दिखाता है और तारीफ ही सुनना चाहता है, तो क्या उसका चित्र तारीफ के योग्य न हो, तो भी तारीफ ही करनी चाहिए?

बच्चो की कला के सिद्धान्त की दृष्टि से देखने पर अगर चित्र में कमी हो, वह तारीफ के योग्य न हो, तो जरूर बताना चाहिए। ( अध्याय छठा व परिशिष्ट आ )

१२३ जो बच्चे बायें हाथ का ही उपयोग करते है, उनको क्या करना चाहिए?

बाये हाथ का उपयोग ही करने देना चाहिए।

१२४. आपका खुद भी अनुभव है कि सब बच्चे चित्रकला नही करना चाहते, वे कला-वर्ग के समय भागकर पेड पर चढते है, तो आप क्या करते है?

मेरा अनुभव ऐसा नही है। किन्तु जब कभी-कभी, जो कि बहुत कम होता है, बच्चे जाकर पेड पर चढ़ना पसंद करते है, तो मै उन्हे जाने देता हूँ और कभी-कभी तो मै खुद भी जाकर पेड़ पर चढ़ जाता हूँ।

१२५ कला-वर्ग में ब्लैकबोर्ड रखना चाहिए?

हाँ, कई ब्लैकबोर्ड रखने चाहिए और सफेद व रगीन खड़िया भी, जिससे बच्चे खूब बड़ी-बड़ी ड्रॉइग कर सके। ( पृष्ठ १२४ )

१२६ शिक्षक बच्चो को चित्र बनाने में प्रत्यक्ष 'मदद' भले ही न करे, लेकिन उसकी सहानुभूति और सहारा तो उनको मिलना ही चाहिए। व्यावहारिक तौर पर यह कैसे करें ?

साधन आदि का भरपूर इन्तजाम करके और उनकी कृतियो की ओर आदर और सहानुभूति की दृष्टि रखकर। ( पृष्ठ १२६ )

१२७ शिक्षा का काम ही बच्चो को ठीक रास्ते पर लाना है। आप उनकी गलतियो को सुधारेंगे ही नही, तो यह कैसे होगा ?

शिक्षा का काम बच्चो को 'ठीक रास्ते पर लाना है', आप जब ऐसा कहते है, तो लगता है कि आपने मान लिया कि बच्चे गलत रास्ते पर है, जिसके बदले उन्हे ठीक रास्ते पर लाना है। गलती इस दृष्टि मे ही है। आज तो शिक्षा का काम यह होना चाहिए कि उसका जो रास्ता है, वही ठीक है और हम ऐसा किस तरह करे कि बच्चा अपने रास्ते पर ही रहे। बच्चे का रास्ता अभय का, नि सकोच का और सत्य का होता है। उसके चित्रो मे ये तीनो चीजे रहती है। किन्तु हम उन्हे गलतियाँ कहते है, वे गलतियाँ नही, उसके अलकार है। ( पृष्ठ १२६ )

१२८ कला-वर्ग में शिक्षक इन सिद्धातो के अनुसार काम करता है, ऐसा मान लीजिये। उसका कला-वर्ग आदर्श रूप से चलता है, फिर भी बच्चे की बाकी २३ घटे की जिन्दगी पर उसका क्या असर होगा ?

शिक्षा का काम तो है चौबीस घटे का। किन्तु जहाँ वह नही होना और केवल एक ही घटे उचित शिक्षा का मौका मिलता है, वहाँ उसी परिमाण मे उसका लाभ होगा। किन्तु कला-शिक्षा चूंकि बच्चे के आन्तरिक जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, इसलिए उसका वह असर भी हो सकता है, जो किसी दवाई का होता है और जो बहुत कम मिकदार मे दी जाती है।

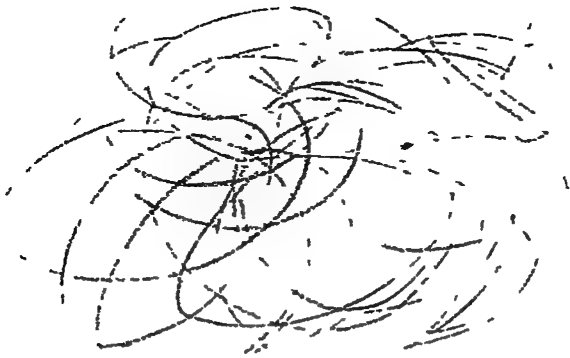
१२९ अगर बच्चे की सारी जिन्दगी पर असर डालना है या कहिये, गल्त असर से उसे बचाना है, तो क्या माँ-बाप और शिक्षक की शिक्षा बच्चो की शिक्षा से भी ज्यादा जरूरी नही है ?

इसमें कोई शक नही। किन्तु ऐसा नहीं कर सकते कि योजना ऐसी बनायें कि पहले माँ-वाप और शिक्षकों को पढ़ा लें और जब वे पूरे-पूरे तैयार हो जायँ, तव बच्चों के प्रश्न को हाथ में लें। दोनो साथ-साथ चलने चाहिए। बड़ों की शिक्षा का माध्यम बच्चों की शिक्षा होना चाहिए।

---

.चित्र

[ मोनोक्रोम ]



१ 'पहले कदम क
लड़का, उम्र २



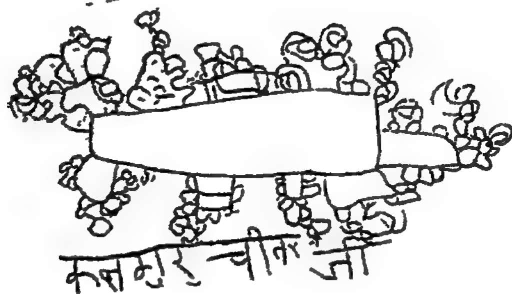
२ 'साबुन से परिचय'
लड़की, उम्र ३-६



३ 'स्नायुओं पर कब्ज़ा
आना प्रारम्भ'
लड़का, उम्र ३

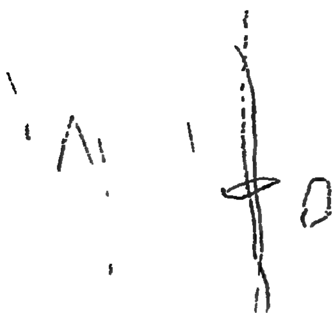
४ 'स्नायुओं पर अधिक कब्ज़ा'
लडका, उम्र ३

५ 'गोल गोल आकारों में खेल'
लडकी, उम्र ४-६

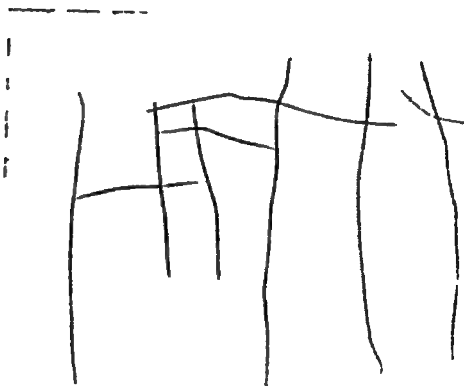




६ 'घोड
लड़क



७ 'राम का धनुष'
लड़का, उम्र ८

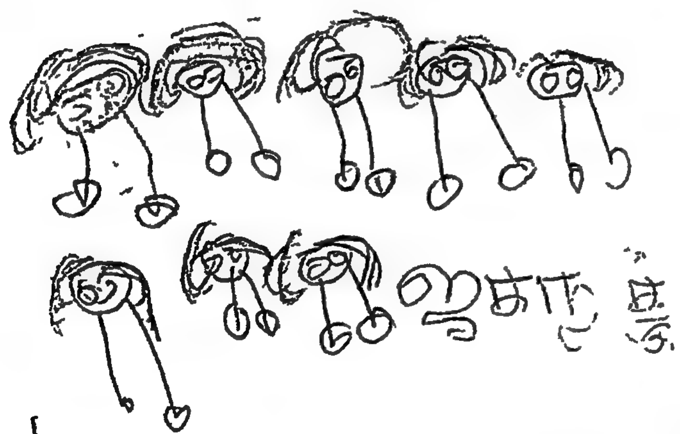


८ 'मनुष्य' लड़का, उम्र ४



९ तारा भरी रात
लड़की उम्र ५-३





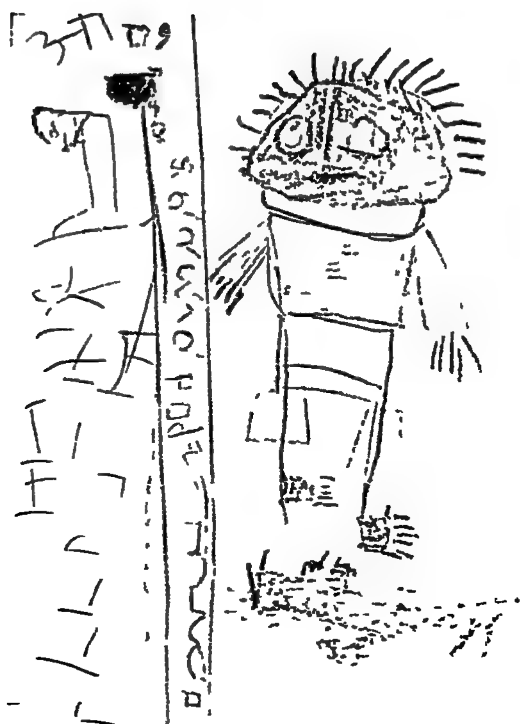
१० 'वर्षा की रोशनी' लडका, उम्र ५

११ 'मनुष्य' लडका, उम्र ६-६

१२ 'पक्षी' लडका, उम्र ५

१३ 'हरा कमीज' लडका, उम्र ६





१४ 'वन भोजन'
लडकी, उम्र ८-९

१५ 'घोडा और सवार'
लडका, उम्र ८







१६ 'कथा दौड' लडकी, उम्र ६

१७ 'रानी गयी रूठ' लडकी, उम्र १०

१८ 'आगे गुरुजी पिछे हम' लडका, उम्र १२



लडका उम्र ११-६

१९

२० 'कवायद' लडका उम्र १०-





२१ 'धुनकिया' लडका, उम्र ११-८



२२ 'ग्वालन' लडकी, उम्र १३

२३ 'शिवाजी' लडका, उम्र १२

२४ 'गुरुजी का घर' लडकी, उम्र (?)





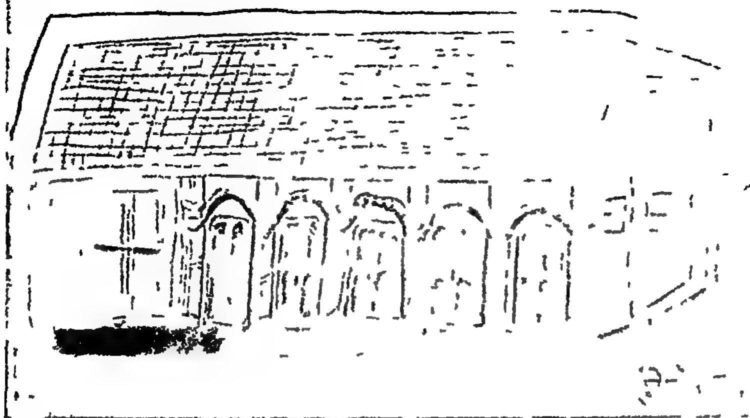
२५ 'वर्षा का दिन'
लड़का, उम्र १२-६

२६ 'कबड्डी' लड़की, उम्र १२




२७ 'हरिन' लडका, उम्र १४

२८ 'गुरुजी' लड़



२९ (तीसरी विमा का भान प्रारम्भ) लड़का उम्र १८

३० 'महल' लड़की, उम्र १६



३१ 'नववधू'
लडकी, उम्र १४



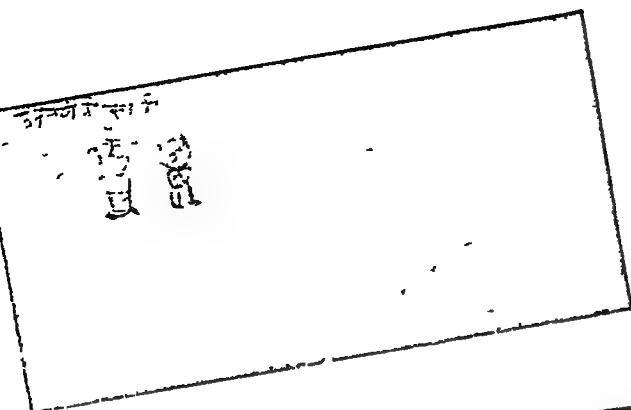
३२ (स्टेन्सिल-प्रिंट)
लडका, उम्र १३



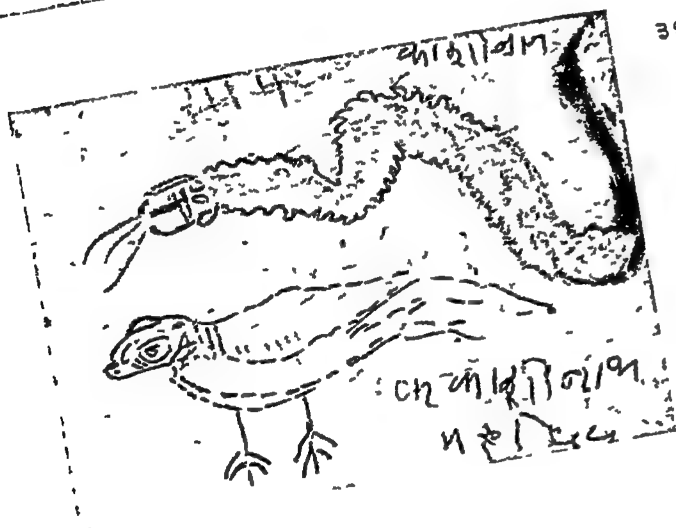
'बाघ और तोता'
लड़का, उम्र १२



(रंग से खेल)
लड़का, उम्र ९



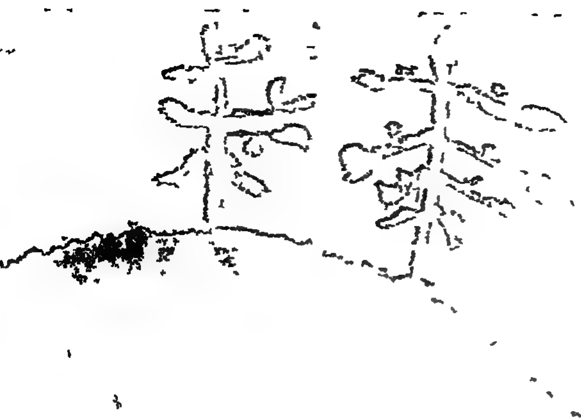
३५ लडका, उम्र १-३

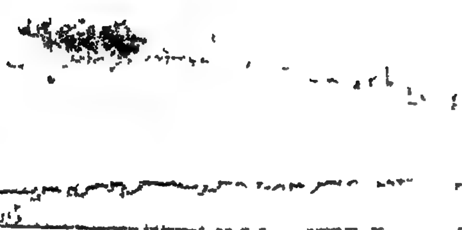


३६ (चिडिया ?)
लडका, उम्र ६

३७ 'मै और मेरे माता-पिता'
लडका, ६

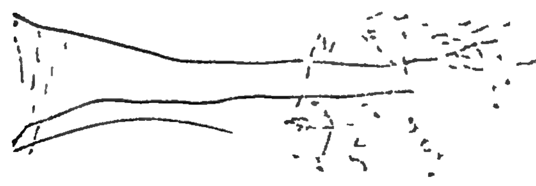


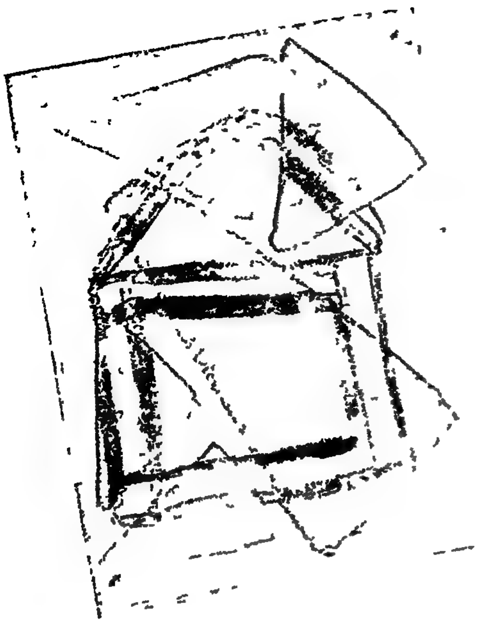




प्रयोग दूसरा, (तीसरा अध्याय)

३९ प्रयोग दूसरा (तीसरा अध्याय)



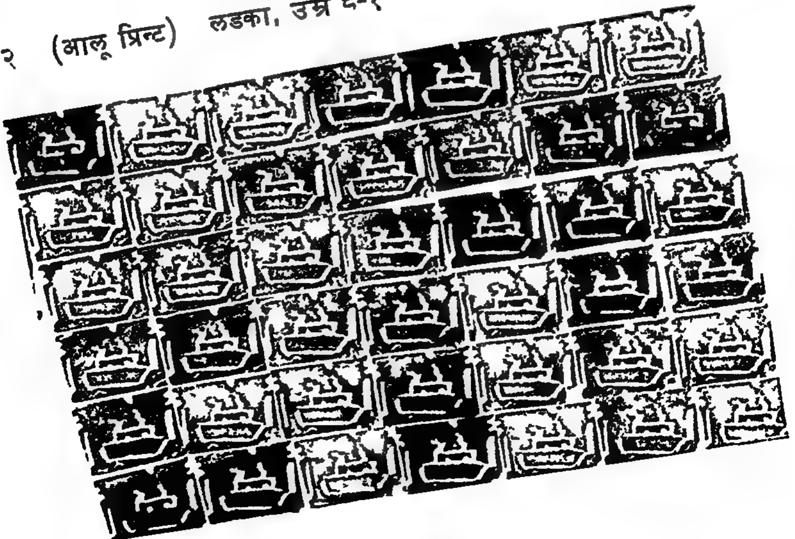


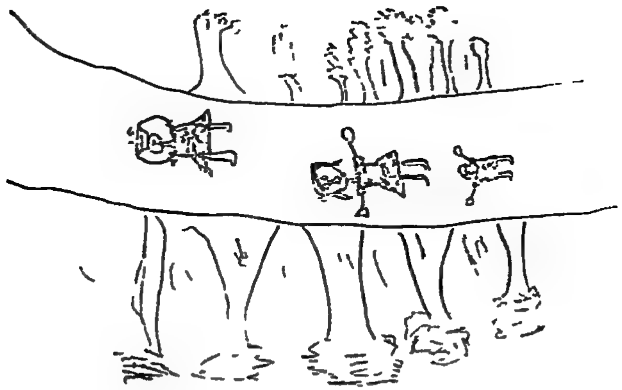
४० 'प्रयोग पहला'
(तीसरा अध्याय)



४१ 'प्रयोग पहला'
(तीसरा अध्याय)

४२ (आलू प्रिन्ट) लडका, उम्र ८-९





४३ 'सडक पर आदमी चल रहे हैं' लडका, उम्र ६-८

४४ 'राजा' लडका, उम्र १०

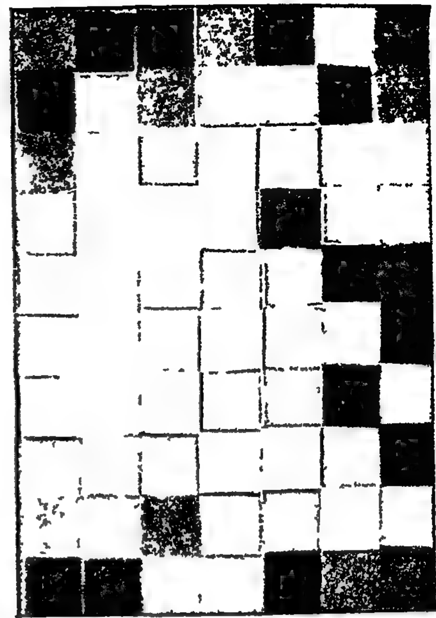
४५ 'आदमी अखबार पढ रहा है' लडका, उम्र १०-६







४६ 'ढोलकिया' (पेपर कट)
लडकी उम्र १२-६



४७ 'भांत' (पेपर कट) लडका, उम्र ११

४८ 'मुर्गी पालन' (कपडे के टुकडो से)
लडका उम्र ११

## नकल क्यों नहीं ?

आनन्दनिकेतन शाला के कार्यकर्ताओ की साप्ताहिक वैठक मे 'वच्चो की कला' के वारे मे चर्चा हो रही थी।

एक साथी ने प्रश्न किया . "आप वच्चो को चित्र देखकर ड्रॉइंग क्यो नही करने देते ?"

मैने पूछा : "किन चित्रो को देखकर ?"

उत्तर "अच्छे-अच्छे चित्रो को। उन चित्रो को, जिनमे प्रमाण वगैरह ठीक होता है। उन्हे देखकर अगर वच्चे चित्रकला का अभ्यास करे, तो जल्दी सीख सकेगे और उनके चित्र भी अच्छे होगे। आखिर कहते है न कि वच्चे तो अनुकरण से ही सीखते है।"

मुझे याद आ गया स्वर्गीय फ्रॉज सिज़ेक का यह वाक्य–"वच्चों की कला वही है, जिसे वच्चा ही निर्माण कर सकता है। कुछ ऐसी भी चीजें है, जिन्हें वच्चा भी कर सकता है, लेकिन उसे हम कला नही कहते, वह नकल है, नकली है।"

यह वाक्य उन्हें तो नही दोहराकर सुनाया, लेकिन प्रश्न के उत्तर के लिए उसी वाक्य ने प्रेरणा दी।

हाँ, सभी शिक्षा-शास्त्री कहते है कि वच्चे तो अनुकरण से ही सीखते है। लेकिन जव सोचता हूँ कि उस वात को आम शिक्षक किस मायने मे लेता है, तो जी चाहता है कि कहूँ कि गलत है वह विचार। वह यह भूल जाता है कि वच्चा एक स्वतन्त्र प्राणी है, अनुकरण करने का यत्र नही। वह तोता नही है। वच्चा अपने मे परिपूर्ण व्यक्ति है। यह खयाल कि वच्चा सयाने का अपूर्ण स्वरूप है, गलत है। आजकल तो वैज्ञानिक मानते है कि वच्चा एक 'नन्हा सयाना' ( मिनिएचर एडल्ट ) नही है। वच्चा ऐसे वडा नही होता है, जैसे सयाना वडा होता है और वच्चा नहीं ही उस जगत् मे रहता है, जिसमे सयाना। इसलिए उसकी प्रवृत्तियाँ भी

बड़ों की प्रवृत्तियों से अलग तरह की होती है और होनी भी चाहिए। यही बात है चित्रकला मे नकल करने की भी। सयानों को शायद नकल द्वारा सिखाना पडता हो, लेकिन बच्चो को नकल से दूर ही रखना चाहिए।

नकल का अभ्यास कराने से वच्चे के अदर जो है, वह प्रकाश नही पाता और नही ही वह प्रकट हो पाता है। नकल का मतलब है कि वह सयानो के जगत् में प्रवेश करे। जोर-जवर, वहलाव या किसी भी परि-स्थिति के कारण भले ही वच्चा सयानों के चित्रों जैसा चित्र वना ले, लेकिन जैसा सिजेक ने कहा है कि 'वह स्वाभाविक नही होगा, नकली होगा।'

बच्चा जो चित्र वनाता है या चित्रकार भी जो चित्र वनाता है, वह उसके अन्दर की अनुभूति द्वारा निर्मित होता है। दूसरो की आँखों देखा नही, खुद देखा, खुद महसूस किया हुआ। बच्चा इस जगत् को जैसे देखता है, जैसे उसे उसका अनुभव होता है और जिस तरह की प्रतिक्रियाएँ उसके अन्दर होती है, उन सवको लेकर उसके दिमाग मे आकारो का निर्माण होता है। यह उसका वाहरी जगत् का ज्ञान होता है, जो आत्म-प्रकटन वह चित्रकला द्वारा करता है। वह इन आकारो द्वारा प्रकाश पाता है। यह आकार ही उसकी चित्र-भाषा की वारहखडी होती है। इसलिए जो चित्र वह अपनी भाषा द्वारा बनाता है, वह उस भापा के मापदंड के हिसाव से ठीक होते है। चित्र अच्छा वना या गलत, यह कहने का अधिकार उसी व्यक्ति को है, जो वच्चे की इस 'चित्र-भाषा' से परिचित है। एक भाषावाला व्यक्ति अगर दूसरी भाषा के वाक्य की रचना की परख अपनी भाषा के व्याकरण से करे और कहे कि वाक्य-रचना गलत है, तो अन्याय करेगा। वच्चे की आकार की भाषा वनती है, उसके पूर्ण व्यक्तित्व के अनुभव द्वारा। और सयाने के आकार की भाषा अक्सर केवल आँख के अनुभव से बनती है। ये दोनो निराली हैं। इनकी एक-दूसरे के साथ तुलना नही की जा सकती।

वच्चा जो 'जानता' है, उसका चित्र वनाता है और सयाना जो 'देखता' है उसका। इसलिए वच्चा अगर ऐसा चित्र वनाये, जो सयाने के

चित्र जैसा हो, तो वह स्वाभाविक नही होगा। व्यक्ति किशोर-अवस्था पार करने के वाद ही सयाने के जैसा देखना शुरू करता है। अगर उस अवस्था मे पहुँचने के पहले ही वालक को उसमे प्रवेश करने के लिए वाध्य किया जायगा, तो वह अन्याय होगा और वालक के स्वाभाविक विकास मे वाधारूप होगा।

पहले ही कहा गया है कि वालक की आकारो की भाषा अपने ही निराले ढंग की होती है। वे आकार केवल आँख से दीखनेवाले आकारो से भिन्न होते है और उन आकारो का स्वरूप वालक की उम्र और उसके अनुभवो के साथ-साथ वदलता जाता है। अगर वालक को उम्र के हिसाव से अनुभव भी उपयुक्त ढग के मिल रहे होगे, तो उसके ये आकार भी अपनी स्वाभाविक गति से विकसित हो रहे होगे। दूसरे ढग से इस वात को रखे, तो कह सकते है कि वच्चो के चित्रों से परखा जा सकता है कि वच्चे के व्यक्तित्व का विकास स्वाभाविक और ठीक गति से हो रहा है या नही।

नकल के सिलसिले मे जरा सोचकर देखिये। अगर आप वच्चे को नकल करके चित्र वनाने के लिए कहेगे, तो उसकी अपनी अनुभूति द्वारा प्राप्त 'आकार' और उसका व्यक्तित्व, इन दोनो के वीच के सम्वन्ध का क्या होगा ? नकल से वच्चे के मानस का एक अग अप्रकट यानी अधूरा ही रह जायगा। उसके कला-अनुभव की वात छोड ही दीजिये। वह उससे तो पूर्ण वचित ही रह जायगा।

नकल कराकर चित्रकला सिखाने की जो ख्वाहिश है, उसके पीछे यही भावना है कि वच्चा ऐसी चित्रकला सीख ले, जिसमे प्रमाणादि ठीक ढग का और कला के व्याकरण के अनुसार हो। इसमे कोई शक नहीं कि अगर किसीको चित्रकार होना हो, तो उसे किसी-न-किसी तरह की चित्रकला की शिक्षा लेनी ही होगी। वस, फर्क यही है कि इस तरह की चित्रकला वही सीख सकता है या कर सकता है, जिसकी उम्र और मन उसके योग्य अवस्था तक पहुँच गये हो। हर व्यक्ति को और खासकर शिक्षक को यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि 'वच्चो की कला और

'सयानों की कला' का स्वरूप और ध्येय बिलकुल अलग-अलग है। सबसे मुख्य बात तो यह जान लेनी चाहिए कि 'बच्चो की कला' हर बच्चे की होती है और सयानो की कला केवल कलाकार द्वारा ही निर्मित होती है। और अगर हम चित्रकला से उस 'व्यावहारिक ड्रॉइंग' का मतलब लेते हों, जिसमें परिप्रेक्षण (पर्सपेक्टिव) वगैरह के नियम आते हो, तो वह केवल व्यावहारिक ड्रॉइग है, जिसका व्यवहार करने की उम्र आने पर उसका सीखना भी स्वाभाविक होता है। उसे सीखने के लिए उस अवस्था पर पहुँचना पडता है, जिसमे रेखागणित के कम-से-कम प्राथमिक पाठ सीखे जा सकें। और वह बाल्य अवस्था के परे की ही अवस्था है। 'बच्चो की कला' मे उसका कोई स्थान नही।

बच्चो की कला का एक ध्येय यह है कि वह उसके पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में मदद करे। कला-अनुभव बच्चे के लिए मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्य-बोध दोनों ही दृष्टि से जरूरी माने जाते है। यह कला-अनुभव हर बच्चे को मिलना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका तभी उपयोग होगा, जब कि वह अनुभव स्वतत्र आत्मप्रकटन और बच्चे के कला-गुणधर्म पर आधारित होगे। बाहर के सिखाये हुए आकारों का इस पहलू के लिए कुछ भी अर्थ नही है।

बालक अगर अपनी स्वाभाविक कला-सीढी पर चढता रहे, तो वह खुद ही बड़ो की कला-अवस्था तक पहुँच जाता है। इसका थोड़ा जिक्र किया जा चुका है। कहा गया है कि बच्चे के मन मे ये आकार उम्र और अनुभव के साथ-साथ विकसित होते जाते है और आखिर बाल्यावस्था पार करने के बाद किशोर-अवस्था मे प्रवेश करने पर ये आकार बिलकुल बदल जाते है। वे धीरे-धीरे 'वास्तविक' स्वरूप ग्रहण करने लगते है और आखिर ये आकार वास्तविक रूप के नजदीक आ जाते है। तब 'बच्चे की कला' बदलकर 'सयानो की कला' बन जाती है।

जो शिक्षक अपने-आपको एक अच्छे माली की तरह समझते है, वे इस सत्य को आसानी से समझेगे। अच्छा माली पौधो की सेवा करता

है और देखता रहता है कि कही पौधो को कीड़ा या बीमारी तो नही लगी और क्या उन्हे पानी और खाद ठीक समय पर और ठीक प्रमाण मे मिल रही है। वह कभी भी यह अपेक्षा नही करता कि गुलाब का जो फूल कल सुबह खिलनेवाला है, वह आज और अभी ही खिल जाय। वह प्रकृति के निश्चित काल को खीच-तान करके बड़ा या छोटा करने की कोशिश नही करता। यही बात शिक्षक की भी है। वह बच्चे के स्वाभाविक विकास को होने दे और अपने को उस विकास के रास्ते की अड़चनो को दूर करनेवाला ही समझे।

इस दृष्टिवाले शिक्षक शिक्षा-शास्त्रियो के इस कथन को कि 'बच्चे अनुकरण से ही सीखते है', ठीक रूप मे लेगे। 'बच्चे अनुकरण करते है' इसका अर्थ यह नही कि बच्चे नकलची होते है या बच्चे बन्दर की जाति के होते है। बच्चे बन्दर का सौन्दर्य और उसका नटखटपन जरूर रखते है, लेकिन उनका विकास बन्दर के नकलचीपन की तरह नही होता।

बच्चे हमेशा नया अनुभव लेना चाहते है और पुराने अनुभवो को दोहराकर पक्का कर लेना चाहते है। अगर उन्होने अभी तक कोई बात देखी न हो और वह उनकी आँखो मे पड जाय, तो वे फौरन उसे नये अनुभव के नाते खुद भी लेना चाहते है। वह नकल नहीं है। वह बन्दर के अनुकरण जैसा नही है। वह तो उस कलाकार की तरह का है, जो हर चीज को देखता है, अध्ययन करता है और फिर निर्माण करता है। बच्चे अनुकरण करते है, इसका अर्थ हमे इसी माने मे समझना चाहिए। बच्चे अध्ययन करते है, परख करते है, स्वय अनुभव करना चाहते है।

# बच्चे भी कलाकार होते हैं

"मैंने बच्चों को आजादी दिलायी। मुझसे पहले बच्चों को चित्र बनाने और उसके लिए लकीरें खीचने पर डॉट और सजा मिलती थी। मैंने उन्हें सयानो के इस वर्ताव से वचाया। मैंने दुनिया को वह चीज दी, जो पहले ठुकरायी जाती थी। बच्चों की सृजनात्मक शक्ति का उनके माता-पिता को दर्शन कराया और उनके असर से वच्चो को दूर रखा। मैंने कहा कि यहाँ वड़ो का प्रवेश निषिद्ध है, इससे पहलेशिक्षक और माता-पिता वच्चों की अच्छी चीजो को दवा देते थे। लेकिन यह मैंने शिक्षा-शास्त्री की दृष्टि से नही, एक मनुष्य और कलाकार की दृष्टि से किया।"

—फ्रांज सिज़ेक

आज से पचास-साठ साल पहले कौन कल्पना करता ऐसा वाक्य मुँह से निकालने की कि 'वच्चे भी कलाकार होते है।' आज हम इतनी दूर चले जा सकते हैं कि कहे 'हर वच्चा जन्म से कलाकार होता है।' उस वक्त क्या, आज भी हमारे देश में और अन्य देशों में भी काफी मिकदार में वच्चों को मार पड़ती है, जव ये वड़े भाई की पेंसिल लेकर, कागज पर वड़े उत्साह के साथ 'कीरमकाँटे' खीचने लगते है। डाँट पडती है, "क्या कीरमकाँटे खींचकर सामान और वक्त वर्वाद कर रहा है?" वच्चे के आत्म-प्रकटन के उन नमूनों को देखकर, जिन्हें फ़ांज़ सिजेक और आज जो और भी वहुत से व्यक्ति कहते है, 'क्या सुन्दर चित्र है' पुराने ढंग के लोग 'कीरमकाँटे' कहते है। वे यह नही जानते कि इनमे कई ऐसे चित्र है, जिन्हें देखकर मातीस या पॉल-क्ली ईर्ष्या करते।*

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आज वच्चों की कला का महत्त्व वहुत वढ गया है। शिक्षा-शास्त्री मानते हैं कि व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए कला की तालीम जरूरी है। और वच्चों को शुरू से ही कला की तालीम

---

* मातीस और पॉल-क्ली योरोप के सुप्रसिद्ध कलाकारो में से है।

मिलनी चाहिए। बाल्यावस्था मे कला की तालीम का क्या स्वरूप होना चाहिए, इसमें भी अब मतभेद कम ही है। सभी मानते है कि जिस पद्धति से बच्चे का आत्मप्रकटन पूर्ण स्वतत्रता से हो, वही कला-शिक्षा की भी पद्धति होनी चाहिए। यानी बच्चा जो कुछ भी अपनी उम्र और मानसिक अवस्था के अनुसार करे, वही उसकी सच्ची शिक्षा है। वही बच्चो की कला कही जाती है। फ़ांज सिज़ेक, जो वियेना के रहनेवाले थे, इस पद्धति के प्रवर्तक थे।

लेकिन बच्चों की कला की ओर जो दृष्टि फ़ांज सिज़ेक की थी, उसे आज सब लोग नही समझ पाते है। उनकी दृष्टि कलाकार की दृष्टि थी। बच्चो की कला कलाकार की दृष्टि से अपना स्वतत्र महत्त्व रखती है। जैसे हम लोग कला या आदिवासी कला ( प्रिमिटिव आर्ट ) को 'एकेडेमिशियन' के मापदंड से नही जाँचते, उसी तरह बच्चो की कला की भी बात है। हम बच्चो की कला को महत्त्व इसलिए नही देते कि उसमें अच्छी कला के गुण होते है और उसे उतनी इज्जत से देखना चाहिए, जितनी कलाकार के काम को देखा जाता है।

अगर कला के ऊपरी रूप को ही देखे, तो बच्चो के चित्रों मे वे ही गुण मिलते है, जो अच्छे चित्रो मे होने चाहिए। उनमे देश-विन्यास ( कंपोजिशन ), रग-मेल आदि सभी होते है। कला के व्याकरण की कसौटी पर वे खरे उतरते है।

कुछ लोग बच्चो की कला और आदिवासी कला में साम्य देखते है। कुछ हद तक यह बात ठीक भी है। जिस तरह आदिवासी कला मे वस्तु वास्तविक रूप मे नही दीखती, और वह केवल आँख के अनुभव का नतीजा नही होती, वल्कि उससे अलग हो जाती है, उसी तरह बच्चो की कला है। दोनो मे बनानेवाले का अपनापन अधिक होता है। दोनो जो 'दीखता है' वह नही; बल्कि जो 'जानते है' वह बनाते है। जैसे आदिवासी कला प्रतीक-प्रधान होती है, उसी तरह बच्चा अपने चित्र प्रतीक द्वारा ही बनाता है। किशोरावस्था आने पर उसके चित्रो में वास्तविकता आने लगती है।

एक और मजेदार बात है बच्चे की कला उसका आत्म-प्रकटन है। बच्चा अपने भावो को चित्रों द्वारा प्रकाशित करता है, यानी चित्रकला उसकी भाषा है और चूंकि इस अवस्था तक बच्चा लिखने की भाषा नही जानता, इसलिए चित्रो की भाषा ही उसकी एकमात्र भाषा होती है। आदिवासी कला की बुनियाद भी वैसी ही है। जब तक आदमी ने लिखने की भाषा ईजाद नही की थी, तब तक उसकी चित्रो की ही भाषा थी। इसी बुनियाद पर ही परी आदिवासी-कला खड़ी है। बच्चों और आदिवासियों, दोनो की भाषा चित्र की भाषा है, क्योकि दोनो मे ही अपनी भाषा को प्रकट करने की जोरदार इच्छा है। इसलिए दोनो मे ही आत्म-प्रकटन की महान् शक्ति है। उनकी कला इसी शक्ति को प्रकट करती है।

बच्चों के बनाये चित्र और आदिम युग की गुफाओ के चित्रों का अध्ययन करने से उनमे एक और साम्य दीखता है। वस्तु के सम्पूर्ण आकार को दोनों नही देखते। उनके चित्रों में वस्तु के ये ही हिस्से होते हैं, जिनके कारण चित्रकार को चित्र बनाने की प्रेरणा मिलती है। एक बच्चे ने अपने शिक्षक का चित्र बनाया। उस चित्र मे शिक्षक की दाढ़ी, चश्मा और हाथ-घडी उसके सिर से भी बड़ी थी और बाकी हिस्सों पर ध्यान भी नही दिया गया था। यही बात आदिवासी कला मे भी है। उसमे कुछ जरूरी हिस्सो पर जोर देने से ही भाव प्रकट होता है।

इसी तरह कई विशेषज्ञों ने इन दोनो कलाओ मे साम्य देखा है। यह साम्य सचमुच कितने परिमाण में है, इस बात पर मतभेद हो सकता है। लेकिन यहाँ इसका जिक्र करने का उद्देश्य केवल यही है कि बच्चो की कला को, चूंकि वह बच्चो की कला है या बच्चो को प्रोत्साहित करना सयानों का धर्म है, यही समझकर अच्छा न कहे। उसकी सजावट का पहलू ( डेकोरेटिव एस्पेक्ट ) विशेष स्थान रखता है। एक कमरे में अगर रूसो, मातीस और लोक-चित्र-कला के कुछ चित्र लगे हों और साथ-साथ बच्चों की कला के कुछ नमूने भी हों, तो कमरे की सजावट के सामंजस्य मे कोई बाधा नही आयेगी। वह तो उसे और भी रुचिकर बनायेंगे।

मै वच्चों की कला की महान् कलाओ मे गणना नही करना चाहता, क्योकि उसका सामाजिक पहलू अविकसित होता है। वह अंतर्मुखी होती है। समाज और व्यक्ति को ऊपर उठाने की जो एक वड़ी शक्ति ऊँची कला मे होती है, वह वच्चो की कला मे नही होती।

फिर भी वच्चो की कला की वुनियाद सौन्दर्य-बोध प्रधान ( एस्थेटिक ) होने के कारण वह अपना विशेष स्थान रखती है और यही कारण है कि उसे कलाकार की दृष्टि से देखने पर ही उसकी रसानुभूति हो सकती है।

## बच्चों के चित्रित साहित्य का सवाल

सवाल उठा कि जो चित्र बच्चों के साहित्य की पुस्तकों मे होते है, उनका क्या स्वरूप होना चाहिए ? सवाल अचानक ही उठ गया। चर्चा कला के आम प्रश्नों पर ही हो रही थी। एक कोने से एक भाई ने कहा : "तो फिर जो चित्र किताबों .में हम देखते है, वह क्या सब गलत ढंग के है ? और खास तौर पर बच्चों के लिए जो साहित्य तैयार हो रहा है, उनमें आपके विचार से कैसे चित्र होने चाहिए ?"

आजकल यह आम विचार है कि बच्चों के लिए जो पुस्तकें तैयार हों, उनमे खूब चित्र होने चाहिए और इसीलिए लेखक अपनी रचना लिखने के पहले ही किसी उपलब्ध चित्रकार से बातचीत शुरू कर देते हैं। प्रकाशक किसी ऐसी पुस्तक को छापने. से फौरन इनकार कर देते है, जिनमे चित्र नही होते। उनके लिए तो यह व्यापार की दृष्टि हैं। लेखक के सामने यह व्यापारी दृष्टि नहीं रहती, यह बात भी हमेशा सत्य नही होती और चित्रकार बेचारे को तो 'आर्डर' का पालन करना ही है।

मेरे सामने इस समय केवल हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं में छपनेवाली पुस्तकें ही है। केवल चित्रों से पुस्तक भर दी और जितनी भी कहानी है या जो जानकारी देनी है, उसे चित्र के रूप में पेश कर दिया, उससे सवाल हल नही हो जाता। वह केवल पुस्तकों में चित्र भर देने से पूरा नही होता।

हमारे विचार से चित्रित पुस्तको में चित्र देने के दो मुख्य उद्देश्य है। और हम उद्देश्य पूरा हुआ तभी मानेंगे, जब कि दोनो उद्देश्यों की, बिना एक-दूसरे को आघात किये पूर्ति होगी।

इसमे कोई शक नही कि एक उद्देश्य तो यह है कि पुस्तक के चित्र, पुस्तक के विषय को शब्दों के माध्यम के द्वारा अनुभव कराने के साथ-

साथ आँख द्वारा भी अनुभव कराये। आम तौर पर यह समझा जाता है कि चित्र मे शब्दो का अनुवाद होने से उसका काम पूरा हो गया। किन्तु उतना ही नही, चित्र की वह भाषा है, जो शब्दो की नही होती। और जहाँ जिस परिस्थिति को शब्द वयान करने में असफल होते हैं, वहाँ उसे चित्र अनुभव कराते है। चित्र का सम्वन्ध चाक्षुष अनुभवो से अधिक होता है। इसलिए उनका लेख के साथ पूर्ति का सम्वन्ध होना चाहिए, अनुवाद का नही। जहाँ लिखे हुए को चित्र से मदद मिलती हो और जहाँ लिखे हुए की कमी को चित्र पूर्ति करे, वहाँ वह देना चाहिए। और भी एक जगह चित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। एक कहानी के कई चित्र वनाये जा सकते है, किन्तु यह भी हो सकता है कि उस कहानी की ऐसी एक परिस्थिति या घटना को चुनकर उसका चित्रण किया जाय, जिसे देखते ही सारी कहानी याद आ जाय। ऐसे मौके पर वह चित्र याद दिलाने या पढे हुए के असर को अधिक पक्का करने का काम करता है।

यानी पहला उद्देश्य यह हुआ कि चित्र पुस्तक मे परिस्थिति का स्पष्टीकरण करे, उसे परिपूर्ण करे। याद दिलाने या असर पक्का करने के लिए इस प्रकार के चित्र वनाये जाते हैं।

दूसरा उद्देश्य अगर अधिक नही तो उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना पहलेवाला। वह है कला-वोध ( एस्थेटिक ) से सम्वन्ध रखनेवाला। चित्र चाहे कही भी क्यों न हों—चाहे दीवार पर फ्रेम मे या कैलेण्डर पर, अलवम मे या पुस्तक में, कलावोध की दृष्टि से अच्छे होने चाहिए। उनका उद्देश्य सुरुचि का निर्माण होना चाहिए। कलावोध जीवन मे अत्यन्त आवश्यक वस्तु है और उसके लिए पुस्तको मे दिये गये चित्र खास महत्त्व रखते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि जो भी चित्र वच्चो के साहित्य में दिये जायँ, वे कला की दृष्टि से अच्छे होने चाहिए।

जो चित्र किसी परिस्थिति का वयान परिपूर्ण करने या स्पष्टीकरण करने के लिए वने, वे भी उसी ऊँचे स्तर के होने चाहिए। यानी इन दोनों उद्देश्यो मे आपस मे मेल हो। एक उद्देश्य के लिए दूसरे उद्देश्य को

आघात न पहुँचे, यह अच्छी तरह से ध्यान मे रखना होगा। आजकल जो भी चित्रित साहित्य आ रहा है, उसमें चाहे पहले कहे गये उद्देश्य की पूर्ति करने के वारे मे जितना भी अच्छा प्रयत्न किया जा रहा हो, किन्तु सौदर्य-वोध की दृष्टि से उनमे से अधिकतर एकदम हानिकारक ही है।

इस सिलसिले में वैसे तो काफी कुछ कहा जा सकता है, किन्तु फिलहाल इतना कहना ही यथेष्ट है कि चित्रित साहित्य ऐसा हो, जो कलावोध और ज्ञान दोनो को ऊँचे स्तर पर ले जाने का प्रयत्न करे।

अगर हम आज जो विदेशों में अच्छा वाल-साहित्य तैयार हो रहा है, उसे देखे तो उससे काफी उत्साह और प्रेरणा मिल सकती है। यह समस्या कि हमारे आज के उपलव्ध चित्रकारों द्वारा कलावोध की दृष्टि से ऊँचा चित्रित साहित्य कैसे वन सकता है, काफी कठिन लगती है। किन्तु उन व्यक्तियो या संस्थाओ के लिए, जो ऊँचे स्तर की तरफ ध्यान देना चाहती है, इस समस्या का हल कुछ पहुँच से ज्यादा कठिन नहीं होगा। इसके वारे में हम एक-दो सुझाव रखना चाहते हैं।

अगर केवल परिस्थिति का स्पष्टीकरण या दृश्य-वर्णन इत्यादि ही करना हो और उचित चित्रकार या चित्र न हों, तो सवसे अच्छा है फोटोग्राफी की मदद लेना। फोटोग्राफी पर आधारित सचमुच ऊँचे स्तर का साहित्य विदेशो मे तैयार हो रहा है। इसके पीछे हम यह सिद्धान्त मानते है कि यह चित्र कला-कृति तो नही होते, पर प्रकृति को हूवहू सामने लानेवाले हो सकते है यानी उनसे प्रकृति के सौंदर्य का दर्शन किया जा सकता है।

दूसरा एक और रास्ता है। वह है उन चित्रों को चुनकर उपयोग करना, जो नि.शंक ऊँची कलाकृतियाँ मान ली गयी है। इसके लिए हम प्राचीन कलाकृतियो का वड़ा सुन्दर उपयोग कर सकते हैं। पुरानी कला में इतने तरह-तरह के चित्र मिल सकते है कि कई विषयों की पुस्तकों को केवल इन्हीके द्वारा चित्रित किया जा सकता है। आज कितनी ही पुस्तके पौराणिक कहानियो की छापी जा रही हैं। इन सवके

लिए सैकडो चित्र ऐसे मिलेगे, जिन्हे देने से तिहरा लाभ होगा। एक तो कहानी का चित्रण होगा ही, दूसरे कला-वोध का विकास होगा। अगर पुस्तक की योजना सोचकर वनायी जाय, तो कला-शैलियो का इतिहास और उनके साथ कला-परिचय भी प्राप्त हो सकता है।

आखिर में जो सुझाव हम देना चाहते है, वह हम सवसे मुख्य मानते है। वह यह है कि बच्चो के लिए पुस्तके तैयार करनी है, तो वडे ही क्यों करे, वच्चे खुद क्यो न करे? खास तौर पर उनके चित्रण का प्रश्न आता है। क्या यह सच नही कि वच्चे वच्चो की भाषा आसानी से समझेगे, सयानो की नही। हमने देखा है कि जो चित्र वच्चो के वनाये हुए होते है, वच्चे उनमे अधिक रुचि लेते है और हमारा अनुभव यह है कि वच्चे उन्हे अधिक ग्रहण भी करते है। अगर वच्चो के साहित्य को वच्चे ही बनायेगे, तो उसके द्वारा पहले कहे गये दोनो उद्देश्यो की पूर्ति एक साथ होगी। वच्चो के कला-वोध का प्रश्न भी हल होगा, परिस्थिति का चित्रण भी उन्हीकी भाषा मे होगा।

बच्चे अपना साहित्य खुद निर्माण कर ले, यह विचार आम तौर पर पूरा-पूरा गले उतरना जरा कठिन-सा लगता है। किन्तु हमारे विचार मे वह भी सच्ची तालीम का एक महत्त्वपूर्ण तरीका है।

## सहायक ग्रन्थ

यहाँ केवल उन्ही पुस्तकों की सूची दी जा रही है, जिनसे लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने मे मदद ली। वैसे तो आज विदेशी भाषाओ मे अनेक ऐसी पुस्तकें उपलब्ध है, जिनमें इसका विस्तृत विवरण होता है कि बच्चों को कला-शिक्षा किस प्रकार दी जाय, किन्तु इस विषय की मौलिक पुस्तकें उतनी नही है। यहाँ जिन पुस्तकों का नाम दिया गया है, वे लगभग उन सभी शिक्षकों के लिए उपयोगी होगी, जो प्रस्तुत विषय मे श्रद्धा और रुचि रखते है। जो मित्र और गहरा अध्ययन करना चाहते है, उन्हें अधिक विस्तृत सूची इन्ही पुस्तको मे मिल जायगी। खेद इस बात का है कि भारतीय भाषाओं मे इस विषय पर बहुत कम पुस्तके है। आम बुनियादी शाला का शिक्षक इस सूची से अधिक लाभ नही उठा सकेगा। किन्तु जो भी एक-दो हिन्दी या बंगला की पुस्तकें इस सूची में है, वे अत्यन्त लाभप्रद साबित होगी।

१. ( अ ) नन्दलाल वसु : शिल्प-कथा ( बंगला ), विश्वविद्या सग्रह, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
( आ ) नन्दलाल बसु : शिल्प-कथा ( हिन्दी ), साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद। १९५२
२. नन्दलाल वसु : शिल्प-चर्चा ( बंगला ), विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : शिक्षा ( बंगला ), विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
४. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : शिक्षा कैसी हो ( हिन्दी )।
५. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर : भारत शिल्पेर षडग ( बंगला ), विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

६. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'परिचय' पुस्तक का 'छवीरअग' अन्याय ( बगला ) ।

७ डब्ल्यू० वायोला : चाइल्ड आर्ट, युनिर्वसिटी आफ लण्डन प्रेस, कैन्ट, इग्लैण्ड ।

८. डब्ल्यू० वायोला : चाइल्ड आर्ट एण्ड फान्ज सिज़ेक, आस्ट्रेलियन जूनियर रेडक्रॉस, वियेना ।

९. हर्बर्ट रीड : एज्यूकेशन थ्रू आर्ट, फेवर एण्ड फेवर, लण्डन । १९४५

१०. हर्बर्ट रीड : एज्यूकेशन फार पीस, रूटलेज एण्ड केगेन पॉल, लण्डन । १९५०

११. हर्बर्ट रीड : आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री, फेवर एण्ड फेवर, लण्डन ।

१२. हर्बर्ट रीड : आर्ट एण्ड सोसायटी, फेवर एण्ड फेवर, लण्डन ।

१३ रूथ ग्रीफिथ्स : इमेजिनेशन इन अर्ली चाइल्डहुड ।

१४. के० काफ्का : द ग्रोथ आफ द माइण्ड, केगेन पॉल, लण्डन ।

१५ सी० जी० यूंग : साइकॉलॉजिकल टाइप्स, केगेन पॉल, लण्डन ।

१६. जीन पियागे : द लैंगवेज एण्ड थॉट आफ द चाइल्ड, रूटलेज एण्ड केगेन पॉल, लण्डन ।

१७ ई० आर० जायेन्स : एडेटिक इमेजरी, केगेन पॉल, लण्डन ।

१८. वी० लोवेनफील्ड : नेचर आफ क्रियेटिव एक्टिविटी ।

१९. रूथ डूनेट : आर्ट एण्ड चाइल्ड पर्सनेलिटी, मेथून एण्ड को०, लण्डन ।

२०. लिलिएम जॉन्सन : चाइल्ड आर्ट टू मैन आर्ट, मैकमिलन, इग्लैण्ड ।

२१ फ्रान्सिस रीटमैन : साइकोटिक आर्ट, रूटलेज एण्ड केगेन पॉल लण्डन ।

२२. रूसो : एमिली, एव्रीमेन्स लाइब्रेरी, लण्डन ।

२३. फ्रायवेल : एज्यूकेशन आफ मैन, डी० एफलटन सेन्चुरी कम्पनी, लण्डन ।

२४. आर० आर० टामलिनसन · पिक्चर एण्ड पैटर्नमेकिंग बाइ चिल्ड्रन, स्टूडियो पब्लिकेशन, लण्डन ।

२५. आर० आर० टामलिनसन : चिल्ड्रन एज आर्टिस्ट्स, किंग पेंग्विन सिरीज़, लण्डन। १९४७
२६. रोमेन रोलाँ : द लाइफ आफ विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, अलमोड़ा, उत्तर प्रदेश।
२७. प्लेटो : द रिपब्लिक, मॉडर्न लाइब्रेरी।
२८. आनन्द कुमारस्वामी : डांस ऑफ शिव, एशिया पब्लिशिंग हाउस। १९५६
२९. श्री अरविन्द : नेशनल वेल्थ आफ आर्ट, अरविन्द आश्रम, पाण्डीचेरी।
३०. श्री अरविन्द : नेशनल एजूकेशन, अरविन्द आश्रम, पाण्डीचेरी।
३१. टॉल्स्टॉय : व्हाट इज आर्ट, आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लण्डन।
३२. रॉजर फ्राई : विजन एण्ड डिजाइन, पेलिकन बुक।
३३. हजारीप्रसाद द्विवेदी : प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (हिन्दी), हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
३४. मार्टिन ब्यूबर : बिटवीन मैन एण्ड मैन।
३५. कला अंक : सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३६. हर्बर्ट स्पेन्सर : एज्यूकेशन, थिन्कर्स लाइब्रेरी, लण्डन।
३७. एवलीन गिब्स : टीचिंग ऑफ आर्ट्स इन स्कूल्स, लण्डन। १९३४

